# प्रस्तावना

भगवान श्रीरमण महर्षि के असंख्य भक्तों की तीव्र इच्छापूर्ति और साधारण जनता के कल्याणार्थ यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है। भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर पूछे गये प्रश्नों और उनके उत्तरों का यह संग्रह है। हममें से कइयों के मन में ये प्रश्न उठते हैं तब हम अपने अंदर मंथन करते हैं। श्रीभगवान के उत्तर दिव्य प्रज्ञान का सार है।

केवल ब्रह्म ही एक मात्र सद्वस्तु है इस अद्वैत सिद्धात का परम सत्य इस पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह समझाया गया है।

सत्य सदा सर्वदा व सब के लिये एक-सा ही है। इसलिए श्रीभगवान सच्चे साधकों को अपने निजी अनुभव का संशोधन और सूक्ष्म निरीक्षण करने, वैसे ही अपने स्वरूप अर्थात् हृदय का शोध करने का बोध देते हैं। यह हृदय नित्य आत्मस्वरूप और परम सत्स्वरूप है। जो कुछ हम देखते या जानते हैं वह उसका आभासमात्र ही है।

श्रीमहर्षि के मुँह से निकला हुआ प्रत्येक शब्द उपनिषद के प्रज्ञान का सार है। श्री रमण वाणी सचमुच सत्य वाणी है।

जिज्ञासु साधक को इस पुस्तक से उपयोगी व्यावहारिक सूचना, सलाह और उचित मार्ग भी मिलेगा जिससे उनको विश्वास होगा कि उनका सच्चा स्वरूप दिव्य है। ऐसी प्रतीति उनको अपनी साधना में बड़ी सहायकरूप बन सकेगी।

इस पुस्तक के अनुवाद में हमको कोष़िक्कोड़ हिन्दी प्रचारक विद्यालय के प्रधान अध्यापक श्री क. म. शिवराम शर्मा से सहायता मिली है। हिन्दी प्रचार सभा के कार्यकर्ता, जैन धर्म शास्त्रज्ञ विद्वान श्री महेन्द्रकुमार ने अपना अमूल्य समय देकर मूल प्रति तथा प्रूफ का संशोधन व संपादन कर हमें बड़ी सहायता पहुँचायी है। उसका हम सहर्ष यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं। इन दोनों महाशयों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

हिन्दी प्रचार प्रेस को भी धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। उनके सहयोग से ही यह पुस्तक इतनी जल्दी छप सकी।

श्री हरिहर शर्मा हममें से एक हैं। हमारे संकेत मात्र से अनुवाद से लेकर अंतिम रूप देने तक का भार अपने ऊपर लेकर उन्होंने स्वभावतया इसको भी अपनाकर पूरा किया है, उसका केवल उल्लेख करना चाहते हैं।

तमिल तथा गुजराती मूल प्रति के आधार पर इस पुस्तक का अनुवाद किया गया है। पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि अशुद्धियों के विषय में प्रकाशन विभाग, रमणाश्रम, तिरुवण्णामलै को सूचित करें तो अगले संस्करण में ठीक करने में सुविधा होगी।

**टी. एन. वेंकटरामन**
प्रबंधक-अध्यक्ष

# अनुक्रमणिका

## भाग 1



## भाग 2

भगवान श्रीरमण महर्षि

ॐ नमो भगवते श्रीरमणाय

# श्रीरमण वाणी—भाग 1

## 1. कर्म और त्याग

भक्त—मनुष्य की आध्यात्मिक अनुभूति का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है?

महर्षि—आत्मसाक्षात्कार।

भक्त—क्या गृहस्थ आत्मसाक्षात्कार कर सकता है?

म—निस्संदेह कर सकता है। विवाहित हो चाहे अविवाहित, मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार अवश्य कर सकता है। कारण यह है कि वह (आत्मा) यहाँ है व अभी है, स्थायी और सर्वव्यापी है। यदि आत्मा का यह गुण न होकर दूसरा गुण होता और प्रयास के बाद कभी किसी समय ही वह प्राप्य हो सकती तो उसकी खोज में कोई विशेषता ही नहीं रहती। जो स्वाभाविक नहीं है वह स्थायी भी नहीं हो सकता। इसी लिए मै कहता हूँ कि वह यहाँ है व अभी है।

भक्त—नमक की पुतली यदि समुद्र में डूबने लगे तो भला कहीं बरसाती अंगरखा उसकी रक्षा कर सकता है? हमें जिस संसार में रात-दिन अथक परिश्रम करना पड़ रहा है वह समुद्र के समान है।

म—हाँ, और मन बरसाती अंगरखे के समान है।

भक्त—यह तब संभव है जब कि मनुष्य काम में मग्न हो और अनासक्ति भाव से एकान्तता प्राप्त कर सके। जीवन के कर्तव्यों के बीच उसको ध्यान और भजन के लिये समय ही नही मिलता।

म—हाँ, आसक्ति के साथ होनेवाले सभी कर्म बेड़ी रूप बन्धन हैं। अनासक्त होकर काम करनेवाले सभी कर्मों से निर्लिप्त ही रहते हैं। वह काम करता हुआ भी एकान्त का ही सेवन करता है। अपने काम में लगे रहना ही सच्ची उपासना है और भगवान में लीन रहना ही सच्चा आसन है।

भक्त—क्या मुझे घर छोड़ना चाहिये या नहीं?

म—अगर वही तुम्हारे प्रारब्ध में हो तो यह प्रश्न ही नही उठता।

भक्त—तो फिर आपने अपने यौवन काल में अपना घर क्यों छोड़ा?

म—भगवान की इच्छा के बिना कुछ बनता ही नही। इस जन्म में भी मनुष्य के जीवन का सारा व्यवहार-क्रम उसके प्रारब्ध के अनुसार ही होता है।

भक्त—क्या मैं अपना सारा समय आत्मा की खोज में लगाऊँ, यह अच्छा है? यदि मुझसे वैसा न हो सके तो क्या मुझे चुपचाप बैठे रहना चाहिये?

म—यदि अपने आपको किसी दूसरे काम में लगाये बिना चुप रह सको तो बहुत ही अच्छा है। यदि यह असंभव हो तो

साक्षात्कार प्राप्त हो तब तक आत्मा की खोज में ही चुप क्यों रहना? इसलिए जब तक मनुष्य कार्यशील रहने के लिए विवश है तब तक वह आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न बिलकुल न छोड़े।

भक्त—क्या मुझे इस जन्म के कर्मों के फल अगले जन्मो में भोगने नहीं पड़ेंगे?

म—क्या तुम्हारा जन्म अभी हुआ है? तुम दूसरे जन्मो की चिन्ता क्यो करते हो? सच बात तो यह है कि न तो जन्म है और न मरण। जो जन्म लेता है उसीको मृत्यु पर और उससे छुटकारा पाने का विचार करने दो।

भक्त—क्या आप मृतको के दर्शन करा सकते है?

म—क्या तुम अपने बंधुओ को उनके जन्म के पूर्व पहचानते थे जो अब उन्हें उनकी मृत्यु के बाद देखना चाहते हो?

भक्त—मोक्ष के मार्ग में गृहस्थ का क्या स्थान है? मोक्ष पाने के लिए उसको संसार त्याग कर संन्यासी बनने की आवश्यकता है या नहीं?

म—तुम ऐसा क्यो समझते हो कि तुम गृहस्थ हो? यदि तुम संन्यासी बन जाओगे तो तुम सदा यही समझते रहोगे कि मै संन्यासी हूँ। तुम चाहे गृहस्थी चलाओ या घरबार छोड़कर वन में चले जाओ तुम्हारा मन तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगा। अहंता ही सब विचारो का मूल है। वही शरीर और संसार की सृष्टि करती है और तुम में यह विचार भर देती है कि

तुम गृहस्थ हो। अगर तुम संन्यासी बनो तो अंतर इतना ही होगा कि 'मैं गृहस्थ हूँ' के स्थान पर तुममें यह विचार आ जायगा कि 'मैं सन्यासी हूँ'। घर के वातावरण के बदले वन का वातावरण आ जाता है। उससे मानसिक विघ्न दूर नही होंगे। नया वातावरण पाकर वे और भी बढ़ जायंगे। इसलिए स्थान के बदलने से ही कोई लाभ नहीं होगा। एकमात्र विघ्न मन है। घर में रहो चाहे वन में, उस मन को जीतना आवश्यक है। यदि तुम वन में मन को जीत सको तो घर में क्यों नहीं जीत सकोगे? तो फिर स्थान क्यों बदलना चाहिये? चाहे जैसी परिस्थिति रहे प्रयत्न तो तुम्हारा अभी से शुरू हो जाना चाहिये।

**भक्त**—सांसारिक कर्मों में मग्न रहने पर भी समाधि-सुख का अनुभव संभव है?

**म**—'मैं काम करता हूँ' यह विचार ही विघ्न उत्पन्न करता है। अपने से पूछो: 'काम कौन करता है?' याद करो तुम कौन हो। तब काम तुम्हारे लिये बंधन नहीं बनेगा। वह अपने ही आप होता रहेगा। बिलकुल काम न करने का ही प्रयत्न करो और न उसको पूरी तरह छोड़ने का ही। तुम्हारा प्रयत्न ही बंधन है। जो होनेवाला है वह होकर ही रहेगा। यदि तुम्हारे प्रारब्ध में काम करना न होगा तो बहुत अधिक दौड़धूप करके भी तुम काम नहीं कर पाओगे। प्रारब्ध में यदि काम करना बदा है तो तुम उससे किसी तरह छूट ही नही सकते,

तुमको उसमें लगना ही पड़ेगा। इसलिए इस बात को तुम उस परम शक्ति पर छोड़ दो। तुम अपने इच्छानुसार किसी कर्म का त्याग या स्वीकार नहीं कर सकोगे।

भक्त—भगवान ने कल कहा कि जब पुरुष अंदर ही अंदर ईश्वर की खोज में तल्लीन रहता है तब बाहर का काम आप ही आप चलता रहता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवनी में लिखा है, कि जब वे अपने शिष्यों के सम्मुख भाषण देते थे तब वे सच-मुच अपने अंदर के श्रीकृष्ण परमात्मा की खोज में मग्न रहे थे और अपने शरीर की सारी सुध-बुध खोकर केवल श्रीकृष्ण संबन्धी बातें करते जाते थे। यहाँ यह संदेह पैदा होता है कि क्या ऐसी दशा में कर्म अपने आप होते रहते है? क्या शारीरिक कर्मों पर थोड़ा बहुत ध्यान देना आवश्यक है या नहीं?

म—आत्मा ही सर्वस्व है। क्या तुम आत्मा से भिन्न हो? या आत्मा के बिना काम चल सकता है? आत्मा विश्व-व्यापी है। इसलिए कर्म चलता ही रहेगा चाहे तुम उसमें लगे रहने का प्रयत्न करो या उससे छूटने का। काम अपने आप होता रहेगा। तभी तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि कौरवों को मारने के संबन्ध में वह सोच-विचार न करे। क्योकि उनको तो दैव ने पहले ही मार डाला था। उसका काम यह नहीं था कि एक कार्य करने का संकल्प कर बाद में उससे विमुख होकर उसमें लगने का प्रयत्न न करे; बल्कि यही था कि उस महान

शक्ति के वश में होकर उसके आदेश का पालन करने में अपनी प्रकृति के अनुसार वरतता जाय।

**भक्त**—यदि मैं ध्यान न दूँ तो संभव है, मेरा काम या तो विगड़ जाय या बंद पड़ जाय।

**म**—आत्मा का ध्यान करना ही काम का ध्यान करना है। तुम अपने को शरीर ही मानते हो, इसीसे तुम यह समझते हो कि काम तुम से ही हो रहा है। परन्तु शरीर, उसकी क्रियाएँ व वह काम भी आत्मा से भिन्न नहीं हैं। तुम काम पर पूरा ध्यान दो चाहे विलकुल न दो अंतर कुछ नहीं होगा। मान लो तुमको एक जगह से दूसरी जगह जाना है। तब तुम अपने हर क़दम के उठाने और रखने पर ध्यान नहीं देते। फिर भी निश्चित समय में तुम अपने आपको निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा हुआ पाते हो। तुम्हारे ध्यान न देने पर भी चलने का काम बराबर जारी रहा। इसी प्रकार सब काम अपने आप चलते रहेंगे।

**भक्त**—यह तो सोते-सोते चलने के समान हुआ।

**म**—सोते रहनेवाले कई ऐसे हैं जो सोते-सोते चलते भी हैं। यह भी बिलकुल वही बात है। एक बच्चा सोता रहता है। उसकी माता उसे खिलाती-पिलाती है। सोते-सोते ही वह बच्चा अपना खाना वैसे ही खा लेता है जैसे जागते समय खाता है। पर दूसरे दिन जागकर वह माता से शिकायत करने लगता है कि रात को उसने खाया ही नहीं। माता और पास के दूसरे लोग

जानते हैं कि उसने बराबर खाया ; पर वह कहता रहता है कि उसने खाया ही नहीं। उसको इसका भान नहीं था। यही असल बात है। काम तो हुआ अवश्य।

दूसरा भी उदाहरण लें। एक यात्री गाड़ी में सो जाता है। बैल चलते हैं, कहीं रुक जाते हैं और कहीं खोल दिये जाते हैं। यात्रा में इतनी सारी बातें होती हैं। पर यात्री को इनमें से किसी का भान नहीं रहता। जागने पर वह अपने को एक नये स्थान पर पाता है। यद्यपि उसकी यात्रा पूरी हो गयी तो भी रास्ते की घटनाओं से वह एकदम अपरिचित है। यही बात आत्मा के संबंध में है। सदा जागृत-आत्मा की तुलना गाड़ी में सोते रहनेवाले यात्री से कर सकते हैं। बैलों का चलना जागृत अवस्था है। उनका अचल खड़े हो जाना 'समाधि' है। कारण यह है कि समाधि का अर्थ जागृत-सुषुप्ति है अर्थात् मनुष्य कार्य का स्मरण तो रखता है पर कर्म के विषय में कोई संबन्ध नहीं रखता। बैल जुए से जुते तो हैं पर चलते नहीं हैं। बैलों को जुए से खोल देना निद्रावस्था है, क्योंकि वहाँ कार्य एकदम बंद रहता है जैसे बैलों की जुए से मुक्ति।

या फिर सिनेमा की ही बात लें। वहाँ परदे पर दृश्य दिखाये जाते हैं। पर चित्रों के हिलने डुलने से परदे पर कोई असर नहीं होता और न कोई अंतर ही पड़ता है। प्रेक्षक चित्रों पर ध्यान देता है, न कि परदे पर। परदे के बिना चित्रों का

कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। फिर भी उस परदे पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। वैसे ही आत्मा रूपी परदे पर। चित्र, क्रियाएँ आदि चलती हुई दिखलायी पड़ती हैं। मनुष्य इन क्रियाओं पर ध्यान देता है, पर आवश्यक वस्तु आत्मा की ओर दुर्लक्ष्य करता है। फिर भी यह चित्रमय जगत आत्मा से भिन्न नही है। मनुष्य परदे अर्थात् आत्मा पर ध्यान रखे चाहे न रखे, क्रियाएँ तो चलती ही रहेंगी।

**भक्त**—पर सिनेमा का तो कोई एक संचालक होता है।

**म**—सिनेमा का खेल निर्जीव वस्तुओं द्वारा होता है। दीप, चित्र, परदा आदि सभी निर्जीव हैं। इसलिये उन्हें चलाने के लिये चेतनायुक्त एक कर्ता की आवश्यकता है। पर आत्मा तो परम चैतन्य है, इसलिये वह स्वयं संपूर्ण है। आत्मा से भिन्न कोई संचालक हो ही नहीं सकता।

**भक्त**—मैं शरीर को संचालक समझने के भ्रम में नहीं पड़ता। मैं गीता के 18-वें अध्याय के 61-वें श्लोक के इन शब्दों की तरफ़ आपका ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

अर्थात्—ईश्वर सभी जीवों के हृदय में वसते हैं और अपनी माया के वल से (उन) सभी जीवों को मानों यंत्र पर चढ़ाकर घुमाते (नचाते) हैं।

म—यहाँ यही दर्शाया गया है कि शारीरिक क्रियाओं के लिए एक संचालक आवश्यक है। शरीर जड़ है इससे उसके लिए एक चेतनाशक्ति आवश्यक है। लोग समझते है कि वे जीव हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने कहा है कि ईश्वर जीवों के संचालक के रूप में सबके हृदय में वास करते है। सच बात तो यह है कि न तो कोई जीव ही है और न उससे भिन्न कोई संचालक ही। आत्मा ही में सर्वस्व समा जाता है। वही परदा है, वही चित्र है, वही दर्शक है, वही नट भी है; संचालक, दीप, चित्रशाला और सब-कुछ वही है। तुम आत्मा-रूपी अपने आप को शरीर व जीव मानकर जो गडबड़ करते हो यह वैसा ही है जैसे सिनेमा देखनेवाला दर्शक अपने आप को ही नट समझे। परदे के बिना अकेला नट कोई दृश्य दिखा सकता है? जो मनुष्य अपने कर्म को आत्मा से भिन्न समझता है उसकी उस नट की जैसी ही बात है।

भक्त—यह तो उलटा संचालक को सिनेमा के खेल में भाग लेने के लिए कहने के बराबर हुआ। इसके लिये हमें नींद में चलना सीखना चाहिये, यही न?

म—कर्म और उसकी अवस्थाएँ मनुष्य के दृष्टिकोण के अनुसार हुआ करती है। कौआ, हाथी और साँप अपने एक अंग से दो भिन्न क्रियाएँ कर लेते हैं। कौआ एक ही आँख से दोनों बाज़ुओं को देख लेता है। हाथी सूंड से ही हाथ का भी काम लेता है और नाक का भी। साँप आँखो से देखता भी है

और सुनता भी। चाहे यह मानो कि कौए के एक ही आँख है या दो आँखें हैं, हाथी की सूंड को हाथ मानो या नाक अथवा साँप की आँखों को आँख कहो या नाक, मतलब तो एक ही है। उसी प्रकार ज्ञानी का मन है। उनके लिए जागृत-सुषुप्ति या स्वप्न-सुषुप्ति और स्वप्न-जागृति सब समान हैं।

भक्त—पर इस स्थूल जागृत जगत में हमें स्थूल शरीर से काम लेना पड़ता है। यदि कार्य करते-करते हम सो जायँ या सोते-सोते काम करने लगें तो काम बिगड़ ही जायगा।

म—सुषुप्ति अज्ञान नहीं पर वह विशुद्ध अवस्था है। जाग्रत अवस्था भी ज्ञान नही है, यही अज्ञान है। सुषुप्ति में सम्पूर्ण भान और जागृति में पूर्ण अज्ञान रहता है। तुम्हारी वास्तविक अवस्था इन दोनों में जैसी है, वैसी ही इनसे परे भी है। आत्मा ज्ञान और अज्ञान दोनों से परे है। सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति आत्मा के सम्मुख होनेवाली घटनाएँ मात्र हैं। तुमको उनका भान हो या न हो वे अवश्य होती है। यही ज्ञानी की अवस्था है। उनके अन्दर जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ चक्कर लगाती रहती हैं, जैसे यात्री के सोते रहने पर बैल का चलना, खडे रहना और जुए के बन्धन से मुक्त होना। ये उत्तर अज्ञानी के दृष्टि-बिंदु से दिये गये हैं। नही तो ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते।

भक्त—हाँ, आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न उठ ही नही सकता। क्योंकि प्रश्न पूछनेवाला ही कौन रहेगा?

परन्तु मैंने तो दुर्भाग्यवश आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है अब तक।

म—हाँ, तुम्हारे लिए वही तो रुकावट है। तुम्हें यह ख़्याल छोड़ देना चाहिए कि तुम अज्ञानी हो और अभी तुम्हें आत्मा का साक्षात्कार करना बाकी है। तुम आत्मा ही हो। क्या कभी ऐसा कोई समय रहा जब कि तुम उस आत्मा को जानते नहीं थे?

भक्त—तब क्या हमें नींद में जागने और दिन में स्वप्न देखने का अभ्यास करना होगा?

म—(हँसते हैं)

भक्त—मैं मानता हूँ कि मनुष्य का स्थूल शरीर आत्मा का अखण्ड ध्यान करने के परिणाम स्वरूप समाधि में प्रवेश करता है व इस कारण से स्थिर भी हो सकता है। ऐसी दशा में शरीर सक्रिय भी हो सकता है व निष्क्रिय भी। ऐसे ध्यान में अवस्थित मन पर शरीर या इंद्रियो की क्रियाओ का असर नहीं होता अथवा मन की अशांति के कारण शारीरिक क्रिया होती है सो भी नहीं है। दूसरे जोर देकर कहते है कि शारीरिक क्रियाएँ समाधि या अखण्ड ध्यान में अवश्य ही बाधा डालती है। इस विषय में भगवान का क्या अभिप्राय है? मेरे कथन के लिए आप ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

म—आप दोनों के कथन ठीक हैं। आप सहज निर्विकल्प समाधि की बात कर रहे हैं और दूसरे केवल निर्विकल्प सामाधि की। केवल निर्विकल्प समाधि में मन आत्मा की ज्योति में निमग्न हो जाता है। वही मन सुषुप्तावस्था में अज्ञान के अंधकार में डूबा रहता है। साधक समाधि से जागने के बाद समाधि और कर्मण्यावस्था का अंतर जानने लगता है। शरीर, दृष्टि, प्राण और मन की क्रिया और विषयों का ज्ञान, ये सब केवल निर्विकल्प समाधि के साधक के मार्ग में रुकावटें हैं।

सहज समाधि में मन आत्मा में निमग्न होकर उसी में लय हो जाता है। इसलिये ऊपर बताये अंतर या रोड़े इस दशा में टिकते नही हैं। ऐसे महापुरुष के कर्म निद्रा में निमग्न बालक के आहार के समान होते हैं। अर्थात् बाहर के लोगो को तो उस कर्म का रूप दीखता है, पर कर्ता को नहीं। चलती गाड़ी में जानेवाले सोते यात्री को गाड़ी की गति का पता नहीं है। उसका मन अंधकार में डूबा हुआ है। पर सहज ज्ञानी को उनकी शारीरिक क्रियाओं का भी भान नही रहता। उनका मन आत्मस्वरूप चिदानन्द में तल्लीन होकर नष्ट हो जाता है।

निद्रा, केवल निर्विकल्प समाधि और सहज निर्विकल्प समाधि का अंतर निम्न लिखित विवरण से बखूबी समझ में आ जायगा :—

| निद्रा | केवल निर्विकल्प समाधि | सहज निर्विकल्प समाधि |
|---|---|---|
| 1. मन सजीव | 1. मन सजीव | 1. मन मृत |
| 2. अंधकार में निमग्न मन | 2. ज्योति में निमग्न मन | 2. आत्मा में तल्लीन मन |
| | 3. कुएँ के पानी में लटकने वाली रस्सी से बंधे घड़े के समान | 3. समुद्र में मिली व उसी में लीन होनेवाली नदी के समान |
| | 4. आवश्यकता पड़ने पर रस्सी के दूसरे सिरे के सहारे ऊपर खींचे जाने-वाले घड़े के समान | 4. समुद्र से लौट न आ सकनेवाली नदी के समान |

आत्म-साक्षात्कार-प्राप्त ऋषि का मन पूर्णरूप से नष्ट हुआ रहता है; परन्तु देखनेवाले को ऐसा मालूम पड़ सकता है कि उनका भी वैसा ही मन है जैसे मामूली मनुष्य का। इसलिये ऋषि का 'अहम्भाव' सिर्फ ऊपर से देखने की वस्तु होता है। परंतु वस्तुतः उनके 'अहंभाव' में न कर्तृत्व भाव रहता है, और न कर्म भाव ही।

## 2. मन और एकान्त

भक्त—मौनव्रत से क्या लाभ है?

म—आन्तरिक मौन आत्म-समर्पण है और वह अहंकार-रहित जीवन है।

भक्त—क्या संन्यासी के लिये एकान्त आवश्यक है?

म—एकान्तता मनुष्य के मन में है। अपार जन-समूह में रहकर कारोबार चलाते हुए यदि मनुष्य मन की संपूर्ण शांति क़ायम रख सके तो वह सचमुच एकान्त का ही सेवन करता है। जो मनुष्य वन में रहते हैं, पर मन को निग्रह में नहीं रख सकते उन्हें एकान्तवासी कैसे कह सकते हैं? इसलिये एकान्तता सचमुच मन की एक वृत्ति मात्र है। सांसारिक वस्तुओं में आसक्त मनुष्य एकांत सेवन नहीं कर सकता। चाहे जहाँ रहे, अनासक्त मनुष्य सदा एकान्त का ही सेवन करता रहता है।

भक्त—'मौन' क्या है?

म—वाणी और विचार इन दोनों से परे की जो स्थिति है वह 'मौन' है। वह एक प्रकार का मानसिक क्रिया-विहीन ध्यान है। मन को वश में करना यही ध्यान है। गहरे ध्यान का मतलब निरन्तर वाणी है। मौन नित्य वाणी है। वही भाषा का बारहमासी प्रवाह है। बोलने से वह रुक जाता है। शब्द उस मूक-भाषा को रोकते हैं। एक मनुष्य घंटों व्याख्यान सुनकर आनंदित होता है पर वह अपने को सुधार नहीं सकता है। दूसरी तरफ़ मौन शाश्वत होकर सारे मानव समाज का कल्याणकर्ता होता है। मौन का अर्थ ही वाक्पटुता है। मौखिक व्याख्यान में मौन की जितनी वाक्पटुता नहीं होती। मौन निरंतर वाणी है। वह सर्वोत्तम भाषा है।

एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ शब्द रुक जाता है और मौन फैलता रहता है।

भक्त—तब फिर हम अपने विचारों को एक दूसरे पर कैसे प्रकट करें?

म—यह तभी आवश्यक है जब द्वैतभाव रहता है।

भक्त—भगवान ही जगह-जगह जाकर लोगो में सत्य का प्रचार क्यों न करें?

म—तुमने कैसे जाना कि मै वैसे नही कर रहा हूँ? क्या मंच पर चढ़कर उपस्थित लोगो के समक्ष भाषण देने में ही उपदेश कार्य समा जाता है? उपदेश करने का मतलब है ज्ञान का सरल दान। वैसा करने का एकमात्र सच्चा मार्ग मौन ही है। कोई मनुष्य एक घंटे तक भाषण सुने व अपने को सुधारने के लिए वहाँ से एक प्रेरणा लेकर न लौटे तो उस मनुष्य के विषय में तुम क्या समझोगे? इसके विपरीत इसकी तुलना दूसरे एक ऐसे मनुष्य के साथ करो जो एक पवित्र मौनी विभूति के समक्ष थोड़ी देर बैठे रहने के बाद वहाँ से अपने जीवन में संपूर्ण परिवर्तन करने का दृढ निश्चय कर वहाँ से निकलता है। कोई भी असर किये बिना पुकार पुकार कर उपदेश करना बेहतर है या आत्मिक शक्ति का प्रवाह प्रसार कर मौन का सेवन कर बैठे रहना?

अब तुम सोचकर बताओ कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है, प्रभाव-शून्य सस्वर भाषण या मौन होकर आत्मशक्ति का फैलाव?

भला, वाणी का उद्भव कैसे होता है?

शुद्ध चैतन्य से अहंता उत्पन्न होती है। वह अहंता विचार को जगाती है और विचार शब्द को जन्म देते हैं। इस तरह वाणी मूलस्रोत की परपौत्री है। यदि वाणी कुछ प्रभाव डाल सके तो ज़रा सोचो कि मौन द्वारा किया उपदेश कितना अधिक शक्तिमान हो सकता है! इस सरल शुद्ध सत्य को, लोग अपने नित्य, शाश्वत अनुभव के सदा विद्यमान सत्य को समझते नहीं हैं। सत्य आत्मा का है। जिसे आत्मा का भान न हो ऐसा क्या कोई रह सकता है? पर हर कोई इस सत्य को सुनने के लिए तैयार न होकर दूर भागता फिरता है और यह जानने को उत्सुक रहता है कि आगे क्या है, स्वर्ग क्या है, नरक क्या है और पुनर्जन्म क्या है?

मनुष्य को गूढता जितनी प्रिय है उतना सत्य नहीं। इसीलिये धर्म भी उसके उसी रस का पोषण करते हैं जिससे वह घूम-फिरकर अंत में आत्मा के प्रति आकृष्ट हो। साधन चाहे जो हो तुम्हें तो अन्त में आत्मा की तरफ़ मुड़ना ही होगा। तब फिर अभी, यहीं आत्मा में स्थिर क्यों न होते हो? अन्य (सप्तलोक) लोकों की कल्पना करने या प्रेक्षक बनने के लिये भी तो आत्मा अनिवार्य है। इसलिये वे सब आत्मा से भिन्न नहीं हैं। अज्ञानी भी जब अन्य वस्तुओं को देखता है तब वह सचमुच आत्मा को ही देखता है।

---

## 3. मनोनिग्रह

भक्त—मै मन का कैसे निग्रह कर सकता हूँ?

म—यदि आत्मा का ज्ञान हो जाय तो मनोनिग्रह करने की बात ही नहीं रहती। जब मन का नाश हो जाता है तब आत्मा प्रकाशमान होती है। ज्ञानी का मन चाहे काम करे या न करे, उसके अंदर केवल आत्मा सतत विद्यमान रहती है। क्योकि मन, शरीर और जगत आत्मा से भिन्न नहीं है, और आत्मा से अलग उनका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। वे आत्मा से भिन्न हो ही नहीं सकते। आत्मा का भान होनें के वाद इन प्रतिच्छायाओ की चिन्ता ही क्यो करनी चाहिये? क्योंकि इन प्रतिच्छायाओ का आत्मा पर क्या असर पड़नेवाला है?

भक्त—यदि मन ही एक प्रतिच्छाया है तो आत्मा को कैसे पहचाना जाय?

म—आत्मा स्वयंप्रकाशित हृदय में है। प्रकाश (चैतन्य) हृदय से निकलकर वुद्धि तक पहुँचता है जो मन का अधिष्ठान है। जगत मन के द्वारा देखा जाता है। आत्मा के प्रतिविंवित प्रकाश से ही तुम जगत को देखते हो। मन की क्रिया द्वारा जगत दृश्यमान होता है। जब मन आत्मा से प्रकाश पाता है तब उसे जगत का भान होता है। जब वह उससे यह प्रकाश नहीं पाता तब उसे जगत का भान भी नही होता है।

यदि मन को अंदर की ओर, प्रकाश के उद्गम की ओर मोड़ा जाय तो बाह्यज्ञान विनष्ट हो जाता है, और तब 'केवल-आत्मा' हृदय में प्रकाशित होती है।

चंद्र सूर्य के प्रकाश से जगमगाता है। सूर्य के अस्त होने पर चंद्र के प्रकाश के सहारे वस्तुओं का बोध प्राप्त किया जाता है। जब सूर्य निकल आता है तब चंद्र की कोई आवश्यकता नही रहती, चाहे आकाश में उसकी थाली जैसी आकृति बनी क्यों न रहे। मन और हृदय को इसी प्रकार समझो। मन की उपयोगिता उसके प्रतिबिम्बित प्रकाश में है जो वस्तुओं को देखने के काम में आता है। अंदर की ओर फिराने पर मन स्वयं-प्रकाश ज्योति के स्रोत में समा जाता है और तब उसकी स्थिति दिन में रहनेवाले चंद्र की-सी हो जाती है।

अंधकार में प्रकाश के लिए दीप की आवश्यकता रहती है; पर सूर्योदय के बाद उस दीप की आवश्यकता नहीं रहती; सब वस्तुएँ अपने आप दृष्टिगोचर हो जाती हैं और सूर्य को देखने के लिए अतिरिक्त दीप की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अपनी आंखें उस स्वयं-प्रकाशित सूर्य की ओर फिराओ तो वह दिखायी पड़ता है। मन की भी यही बात है। वस्तुओ को देखने के लिए मन से प्रतिबिम्बित प्रकाश की आवश्यकता है। हृदय को देखने के लिए मन को उसकी ओर मोड़ना पर्याप्त है।

तब मन की कोई गणना नहीं रहती; क्योंकि हृदय स्वयं-प्रकाशित है।

भक्त—पिछले अक्टूबर में आश्रम छोड़कर जाने के बाद करीब दस दिनो तक मुझे उस शन्ति का भान रहा जो भगवान के समक्ष प्राप्त होता है। मैं अन्यान्य कार्यों में मग्न रहता तब भी शान्ति की अन्तर्वाहिनी धारा बराबर बहा करती थी। मेरी कुछ वैसे ही द्वैतभाव की स्थिति थी जैसी नीरस व्याख्यान सुनते-सुनते ऊंघनेवाले की। फिर वह शान्ति-सुख एकदम नष्ट हो गया। पुरानी विचित्रताएँ फिर प्रविष्ट होने लगीं। कार्यभार के मारे ध्यान के लिए समय ही नहीं मिलता। काम में लगे रहते हुए 'मै हूँ' यह रट लेना पर्याप्त है?

म—(जरा रुककर) तुम यदि मन को बलवान बनाओ तो पहली शान्ति चालू रहेगी। उसका कालप्रमाण चालू अभ्यास द्वारा प्राप्त मन के बल पर निर्भर है। ऐसा सबल मन ही तेज़ धारा में टिक सकता है। उस स्थिति में काम में लगे रहो या न रहो, धारा प्रवाह में कोई अंतर या रुकवट नहीं पड़ती। बाधा डालनेवाला कर्म नहीं है पर 'मै कर्म करता हूँ' यह विचार ही बाधा डालता है।

भक्त—मन को बलवान बनाने के लिए क्या किसी विशेष ध्यान की आवश्यकता है?

म—जो कुछ काम करो वह तुम्हारा नहीं है, ऐसा ख्याल अपने समक्ष रखो तो पर्याप्त है। इस ध्यान के लिए आरंभ में कठिन प्रयत्न आवश्यक है। पर धीरे-धीरे यह सहज और स्थिर बन जाता है। काम अपने आप चलता रहेगा और तुम्हारी शान्ति निश्चल टिकी रहेगी।

ध्यान तुम्हारा सच्चा स्वभाव है। अब तुम उसको 'ध्यान' यह विशिष्ट नाम देते हो। क्योंकि तुम्हें विचलित करनेवाले कई तरह के विचार सता रहे हैं। जब इन विचारों को हटा दिया जायगा तब तुम अकेले बाक़ी रह जाओगे—अर्थात् विचारमुक्त ध्यानावस्था में रहोगे। यही तुम्हारा सच्चा स्वभाव है। दूसरे उन सतानेवाले विचारों से मुक्त होकर तुम इसी स्वाभाविक स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करते हो। उन विचारों को दूर करने की क्रिया को 'ध्यान' कहते हैं। जब यह अभ्यास पक्का हो जाता है तब सच्चा स्वभाव सच्चे ध्यान के रूप में व्यक्त होता है।

भक्त—ध्यान में लगने पर अन्य विचार बड़े ज़ोर के साथ सताने लगते हैं।

म—हाँ, ध्यान में सब तरह के विचार उठा करते हैं, यह ठीक है। तुम्हारे अंदर जो कुछ विचार छिपे हुए है उन्हें बाहर निकलना ही है। यदि वे नहीं निकलेंगे तो फिर उनका नाश कैसे होगा? विचार अपने आप उठा करते हैं। वे यथाक्रम

विनष्ट होने के लिये ही उठते हैं। इस प्रकार विचारो के नाश होने पर मन बलवान हो जाता है।

भक्त—जीवन में ऐसे भी अवसर आते है जब कि मनुष्य या वस्तु का एक धुंधला-सा पारदर्शक-सा रूप सामने आ जाता है जैसे कि स्वप्न में। हम ऐसे रूप को बाह्य वस्तु नही मानते। फिर भी मन में उसके अस्तित्व का निष्क्रिय भान रहता है। तो भी इस अवस्था में किसी प्रकार का कोई सक्रिय भान नहीं होता। मन में एक गंभीर शान्ति रहती है। क्या यह वही समय है जब कि हमें आत्मा में डुबकी लगानी चाहिये, या यह किसी मोहिनी विद्या—हिप्नोटिसम—का परिणाम है? तात्कालिक शांति के विचार से क्या इस दशा को उत्तेजन देना उचित है?

म—मन में शान्ति के साथ-साथ एक चेतनता रहती है। इसी स्थिति की प्राप्ति हमारा लक्ष्य है। वही आत्मा है। इस बात को न पहचानकर इस विषय में प्रश्न पूछना यही सिद्ध करता है कि वह दशा स्थिर नहीं है, क्षणिक है।

जब बहिर्मुख प्रवृत्तियाँ रहती है तब 'डुबकी' मारना शब्द का उपयोग यथार्थ माना जा सकता है और तब मन को वैसा करने के लिए अंदर की ओर चलाना पडता है जिससे वह बाह्य वस्तुओ की सतह के नीचे डूब जाय। परन्तु चैतन्य में बाधा पहुँचाये बिना यदि शान्ति बनी रहे तो फिर डुबकी की क्या आवश्यकता है? यदि इस दशा को आत्मा समझकर प्राप्त न

किया जाय तो वैसे प्रयत्न को डुबकी मारने की क्रिया माना जा सकता है। उस अर्थ में कहा जा सकता है कि वह दशा आत्मसाक्षात्कार करने या डुबकी लगाने के उपयुक्त है। इस तरह तुम्हारे अंतिम दोनों प्रश्न उठने ही नहीं चाहिए।

भक्त—आदर्श को कार्यान्वित करने के लिये प्रायः वालक स्वरूप का उपयोग किया जाता है। मन उस तरफ़ झुकता है। इस विशेष आकर्षण से पार कैसे पा सकते हैं?

म—यदि तुम्हारा ध्यान आत्मा की ओर ही केन्द्रित है तो फिर वालक और उनके प्रति तुम्हारी भावनाओं का विचार ही क्यों करते हो?

भक्त—तिरुवण्णामलै की तीसरी यात्रा के वाद मेरी अहंता इतनी वढ़ गयी है कि ध्यान की सुगमता हट गयी है। यह दशा अनावश्यक व अस्थिर मात्र है या इस वात का द्योतक है कि आगे मुझे ऐसे स्थानों में नही आना चाहिये?

म—यह कल्पना मात्र है। यह स्थान हो चाहे कोई दूसरा, तुम्हारे अंदर ही है। इस भ्रम से वचना आवश्यक है। स्थानों का मानसिक क्रियाओं से कोई सम्वंध नहीं है। तुम्हारा वातावरण भी तुम्हारी अपनी इच्छा के अनुसार वनाया नहीं जा सकता है। वह तो स्वयं नियमानुसार ही होता है; तुम्हें उससे ऊपर उठना है, तुम उसमें जकड़ मत जाओ।

(शाम के करीब पांच बजे जब श्री भगवान पहाड़ी पर गये हुए थे तब एक साढ़े आठ साल का बालक मण्डप में आ बैठा। श्री भगवान की अनुपस्थिति में वह बालक प्रसिद्ध रचयिताओं और रचनाओं के उद्धरण दे-देकर योग और वेदान्त के सम्बंध में सरल साहित्यक तमिल भाषा में बोल रहा था। करीब पौन घंटे बाद जब श्री भगवान फिर मण्डप में पधारे तब पूरी शान्ति छायी हुई थी। श्री भगवान के सम्मुख वह बालक करीब बीस मिनट तक मौन बैठा रहा—भगवान पर दृष्टि लगाये बैठा रहा। फिर उसकी आँखो से आंसुओ की धारा बहने लगी। अपने बायें हाथ से आंसुओ को पोंछकर वह यह कहता हुआ बाहर चला गया कि उसे अब आत्मसाक्षात्कार करना है।)

भक्त—इस बालक के असाधारण गुणो का मर्म क्या है?

म—इसके पूर्व जन्म के संस्कारो का प्रभाव इस पर जबरदस्त पड़ा है। फिर भी वे केवल निश्चल व शान्त मन में व्यक्त होते हैं। हम सबने अपने अनुभव से देखा है कि जब किसी बात का स्मरण करने के लिए कठिन प्रयास व्यर्थ हो जाता है तब मन की शांत अवस्था में वह बात अचानक चमक उठती है।

भक्त—उपद्रवी मन को शान्त और निश्चल कैसे बनाया जा सकता है?

म—या तो उसकी जड़ तक, यहाँ तक पहुँचो कि वह बिलकुल गायब हो जाय या फिर भगवान की ऐसी शरणागति

स्वीकार करो कि वह बिलकुल मर जाय। आत्मसमर्पण और आत्मज्ञान एक ही हैं। दोनों में आत्मसंयम अंतर्गत है। परमेश्वर की शक्ति को जब अहंकार पहचानता है तब वह शरण में आता है।

**भक्त**—'संसार' ही मन को चंचल करने का मुख्य कारण मालूम पड़ता है। उससे मैं कैसे बच सकता हूँ? मानसिक शान्ति प्राप्त करने का एक अच्छा उपाय क्या संन्यास नहीं है?

**म**—संसार केवल तुम्हारे मन में है। जगत सदैव यह नहीं कहता रहता है कि 'लो मैं यह रहा' यदि वैसी वस्तु-स्थिति होती तो वह कायम के लिए बना रहता और तुम्हें निद्रा में भी उसके अस्तित्व का बोध बना रहता। परन्तु नींद में तुम्हें वह बोध तो होता नहीं है। इसलिये वह अनित्य है। इसलिये वह निःसत्व है। सत्यरहित होने से आत्मा ही उसको आसानी से जीत सकती है। आत्मा ही नित्य है। आत्मा को अनात्मा से न मिलाना ही संन्यास है। जिस अज्ञान के कारण यह मिथ्या धारणा बनी रहती है उस अज्ञान के दूर होते ही अनात्मा का अस्तित्व मिट जाता है; यही सच्चा संन्यास है।

**भक्त**—ऐसे संन्यास के बिना भी क्या हम निर्लिप्त बनकर कर्म नही कर सकते हैं?

**म**—आत्मज्ञानी ही सच्चा कर्मयोगी हो सकता है।

भक्त—भगवान द्वैतवाद का खण्डन करते है ?

म—जब तुम आत्मा को अनात्मा समझते हो तभी द्वैत-भाव उठता है। 'अद्वैत' है अनात्मा का इनकार करना।

---

## 4. भक्ति और ज्ञान

भक्त—सबको दंडवत् वंदना करके सबको परमात्मा के रूप में ही देखना हृदयस्थ श्रीकृष्ण के साक्षात्कार करने का मार्ग श्रीमद् भागवत में बताया हुआ है। क्या यह आत्मज्ञान का सही मार्ग है ? मन के द्वारा अतीत वस्तु को पाने के लिये मानसिक 'मै कौन हूँ' इस परिप्रश्न की अपेक्षा मन के सामने आनेवाले सभी को भगवत्स्वरूप मानकर उपासना करना क्या सरल मार्ग नही है ?

म—हाँ, जब तुम सबमें परमात्मा को देखते हो तब तुम परमात्मा का चिन्तन करते हो या नही ? सबमें परमात्मा को देखने के लिये परमात्मा का चिन्तन आवश्यक है। परमात्मा को मन में लाना ही ध्यान है और साक्षात्कार के पूर्व की सीढ़ी भी ध्यान ही है। अपने में आत्मा को पहचानना ही आत्मज्ञान है। वह अपने से भिन्न कभी हो ही नहीं सकता। पहचानने के पूर्व ध्यान आवश्यक है। तुम ध्यान परमात्मा का करो या आत्मा का—दोनों एक ही है। क्योंकि लक्ष्य एक ही है। तुम

९०५

आत्मा से किसी भी प्रकार दूर भाग नही सकते। तुम सबमें तो भगवान को पाना चाहते हो; पर अपने में नहीं, यह कैसे हो सकता है? यदि 'सब' ईश्वर हैं तो क्या उस 'सब' में तुम नही हो? यदि 'तुम' स्वयं ईश्वर हो तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? भागवत में और कुछ अन्य ग्रंथों में भी यही मार्ग बताया गया है। इस अभ्यास के लिये भी किसी द्रष्टा या विचारक की आवश्यकता है। वह द्रष्टा कौन है?

भक्त—सर्वव्यापी ईश्वर के दर्शन कैसे कर सकते हैं?

म—ईश्वर के दर्शन करने के लिए ईश्वर होना पड़ता है। ईश्वर से भिन्न कोई 'सर्वत्र' नहीं है जिसमें उसका व्याप्त होना अवशेष हो। केवल वही सत् है।

भक्त—क्या हमारे लिए बारंबार गीता का पारायण करना आवश्यक है?

म—हाँ, सदा करना चाहिये।

भक्त—ज्ञान और भक्ति के बीच में क्या संम्बंध है?

म—आत्मा में व्याप्त शाश्वत, अखंड व स्वाभाविक दशा ज्ञान है। आत्मा को प्राप्त करने के लिये आत्मा पर प्रेम रखना चाहिये। वस्तुतः ईश्वर ही आत्मा है। इसलिये आत्मा पर प्रेम ही ईश्वर पर प्रेम है। वही भक्ति है। इस तरह ज्ञान और भक्ति एक ही हैं।

भक्त—घंटे-भर या उससे अधिक समय तक नाम जपता हुआ मैं निद्रा की-सी दशा में पड़ जाता हूँ। जागने पर मैं समझने लगता हूँ कि नाम-स्मरण के समय जप में बाधा पड़ी थी। इसलिये मै फिर प्रयत्न करता हूँ।

म—'निद्रा की-सी दशा'? यह ध्यान देने योग्य है। यही स्वाभाविक दशा है। अब तुममें जो अहंता है उसी के कारण तुम समझते हो कि वह स्वाभाविक दशा काम में बाधा पहुँचा रही है। इसलिये इस अभ्यास को बराबर जारी रखो जब तक तुम यह न अनुभव करने लगो कि वह स्वाभाविक दशा है। तब तुम देखोगे कि जप गौण है और वह अपने आप ही चल रहा है। इस समय तुम्हारा जो संदेह है उसका कारण यह है कि तुम अपने मन को वही मानते हो जो जप करता है। जप का अर्थ है अन्य सब विचारो को भगाकर एक ही विचार में लगे रहना। वही उसका उद्देश्य है। जप से ध्यान में पहुँचते है और उस ध्यान का फल आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान है।

भक्त—मुझे 'नाम-जप' कैसे करना चाहिये?

म—भक्तिभाव के विना कृत्रिम व ऊपर-ऊपर केवल मुख से भगवान का नामोच्चारण करना ठीक नहीं है। ईश्वर का नाम लेने के लिये हम सच्चाई से उनको पुकारें और अपने को पूर्णरूप से उसके चरणो में समर्पित कर दें। ऐसे आत्मसमर्पण

के बाद ही भगवान का नाम मनुष्य की जीभ पर सदा बना रह सकता है।

**भक्त**—तब फिर विचार की क्या आवश्यकता है?

**म**—समर्पण का सच्चा अर्थ समझने के बाद ही समर्पण सफल होता है। ऐसा ज्ञान बार बार विचार करने और अनुशीलन के बाद ही होता है। निश्चित रूप में उसका परिणाम आत्मसमर्पण है। मन, वचन और कर्म से किये हुए किसी समर्पण और ज्ञान में अंतर नहीं है। समर्पण तभी सम्पूर्ण हो सकता है जब कि वह संदेहरहित हो। यह सौदे का विषय नहीं है। भगवान से कुछ माँगा भी नहीं जा सकता। ऐसे समर्पण में सब समा जाता है। ज्ञान व वैराग्य वही है; भक्ति और प्रेम भी वही है।

---

## 5. आत्मा हृदय में विराजमान है

**भक्त**—मैंने एक संतपुरुष का ऐसा कथन सुना है कि वे अपना आध्यात्मिक अनुभव अपनी भृकुटी पर प्राप्त करते है। पर श्रीभगवान कहते हैं कि आत्मा हृदय में छाती की ज़रा दायीं ओर विराजमान है। इन दोनो मतों में किसे सही माना जाय?

**म**—जो द्रष्टा और दृश्य के संबंध से परे है वही अंतिम व पूर्ण अनुभव माना जा सकता है। ऐसी अवस्था प्राप्त

होने पर वैसा अनुभव कहाँ मिलता है, इसकी चिंता करने की आवश्यकता नही।

**भक्त**—परंतु (1) आध्यात्मिक अनुभव का केन्द्र भृकुटी है और (2) वह हृदय में है। इन दो मतो में कौन-सा सही है?

**म**—अभ्यास के लिये तुम भृकुटी पर भले ही ध्यान लगाओ परंतु यह केवल एक प्रकार की मानसिक भावना ही होगी। वस्तुतः जिस अवस्था में (संपूर्ण प्राप्ति में) तुम्हारा सारा व्यक्तित्व ही समा जाता है उस अनुभव की परम दशा तो देश तथा काल से परे है। जब तुम इस दशा में पहुँच जाओगे तब इस दशा से भिन्न ऐसे किसी कर्ता के रूप में तुमको किसी कर्मरूपी केंद्र का अनुभव करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

**भक्त**—मैं अपना प्रश्न ज़रा दूसरे शब्दो में रखना चाहता हूँ। क्या भृकुटी को अत्मा का स्थान मान सकते है?

**म**—आत्मा चैतन्य का मूल है और वह मन की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनो दशाओं में समान रूप से रमण करती रहती है। ध्यानावस्थित पुरुष को यदि निद्रा घेर लेती है तो उसको झोंकें आने लगती है और सिर भी हिलने लगता है। परंतु सारे अनुभव का अंतिम रूप आत्मा जो भृकुटी या मस्तक के किसी भाग में ही वसती हो तो ऊपर वतायी जैसी घटना वन नहीं सकती है।

यदि निद्रा के बीच में भृकुटी पर आत्मानुभव न होता हो तो यह केन्द्र इसका स्थान नही माना जाना चाहिए। अगर मानते हों तो इसका अर्थ यही होगा कि आत्मा अपना स्थान वारबार वदलती रहती है जो बिलकुल वेहूदी बात है।

सच बात तो यह है कि साधक स्वयं जिस चक्र पर ध्यान लगाते हैं उनको उससे आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है। परंतु इस कारण से उनके आत्मानुभव की अमुक जगह अपने आप आत्मा का स्थान नही वन सकती।

खूब गाढ़ निद्रा में भी जहाँ आत्मानुभव प्राप्त हो सके वही आत्मा का असल निवास-स्थान है और वह केवल हृदय ही हो सकता है।

महात्मा कबीर के पुत्र कमाल की एक वड़ी रसीली कथा है। मस्तक (और उसके साथ भृकुटी भी) आत्मा का स्थान नहीं हो सकता इसके सवल प्रमाण के लिये यह कथा उत्तम उदाहरण है। सब जानते हैं कि कवीर वड़े भारी रामभक्त थे। वे रामभक्त साधु-संतों को सदा खिलाया करते थे। एक दिन ऐसा प्रसंग आया कि अनेक साधु-संत ऐसे समय आ गये जब कि दूसरे दिन खिलाने के लिए उनके घर में अन्न की सामग्री न थी। सवेरा होने के पहले उसकी व्यवस्था कर लेने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। इसलिये अपने पुत्र कमाल के साथ आवश्यक सामग्री लाने के लिये रात के समय ही कवीरदास स्वयं निकले।

कथा ऐसी है। एक व्यापारी के घर की दीवार में छेद कर पिता व पुत्र ने आवश्यक सामग्री घर से बाहर निकाल ली। तब सत्यपालन के निमित्त घर-मालिक से यह सच्ची बात कहने के लिये उनको जगाने कमाल फिर अंदर गये। उससे निवृत्त होकर जब वे पलायन करने के लिए छेद में घुसे तो उसीमें फँस गये। सिर बाहर व धड़ अंदर। घरवाले उनका पीछा कर पकड़ने आये। कमाल ने कबीर साहब को बुलाकर कहा कि वे उसका सिर काटकर अपने साथ ले जायें जिससे उन्हें चोर का पता न लगे। कबीर चोरी के माल के साथ कमाल का सिर भी साथ लेकर घर पहुँचे। तुरंत सिर को सावधानी से छिपा दिया। दूसरे दिन कबीर ने संतो को खिलाया। शामको वे सब भजन कीर्तन कर शहर में घूमने निकले।

इसी बीच में जिसके घर चोरी हुई उसने कमाल के धड़ को राजा के पास चोरी की बात बताकर सौप दिया। राजा ने धड़ किसका है इसका ठीक-ठीक पता लगाने के लिये राज-मार्ग के एक प्रधान स्थान पर उसे लटकवाया व उसकी उत्तर-क्रिया करने के लिए जो कोई उसे पहचानकर लेने आवे उसे पकड़ने के लिये पास ही छिपे वेश में एक पुलीस को भी खड़ा कर रखा।

शामको कबीरदास की वह भजन-कीर्तन-मंडली राज-मार्ग के उस स्थान पर पहुँची जहाँ कि कमाल का धड़ लटका

कर रखा गया था। वह शरीर तो मुरदा ही था; फिर भी वह मंडली के साथ गाने व ताली बजाकर कीर्तन करने लगा।

इस कथा का तात्पर्य यही है कि मस्तक या भृकुटी आत्मा का स्थान हो नही सकता। दूसरा भी उदाहरण देखें। युद्धक्षेत्र में लड़ते लड़ते किसी एक योद्धा का मस्तक दूसरे की तलवार के प्रहार से अचानक काट दिया जाता है; तब धड़ शव होकर जबतक गिर पड़ता तब तक दौड़ता और अपने हाथ से तलवार चलाता भी रहता है।

**भक्त**—परंतु कमाल का शरीर तो घंटों पहले प्राणहीन हो गया था और चोर का पता लगाने के लिए उसे लटका कर रखा था।

**म**—जिसे तुम मरण कहते हो वह कमाल के लिये कोई असाधारण अनुभव नही था। वे जब छोटे थे उस समय जो एक घटना हुई, उसे सुनो। बाल्यावस्था में कमाल का समवयस्क एक मित्र था। वे दोनों प्रति दिन एक साथ खेला करते थे। शामको खेल के अंत में किसका कितना दॉव हुआ उसे लेने देने का हिसाब कर ज़बानी याद रख दूसरे दिन उसके अनुसार वे खेलना शुरू कर देते थे। एक दिन शामको खेल के दॉव के हिसाब के अनुसार कमाल को अपने मित्र से कुछ लेना निकला। दूसरे दिन अपना लेना वसूल करने के लिये कमाल अपने मित्र के घर गये। वहाँ वे देखते क्या है कि वह लड़का

बरामदे में सोया पड़ा है व उसके सगे-संबंधी उसे घेरकर बैठे रो रहे हैं।

कमाल ने उनसे पूछा :—'क्या बात है? कल शाम को तो यह मेरे साथ खेल रहा था। मुझे उससे दाँव में कुछ लेना भी बाकी है।' लड़का तो मर गया ऐसा कहकर वे लोग और भी ज़ोरशोर से रोने लगे। इस पर कमाल ने कहा, 'नहीं, नहीं,' यह कही मरा नहीं है। मुझे दाँव न चुकाने के लिये ढोंग रचकर सो रहा है।' उसके सगे-संबंधियो ने क्रोधित होकर कमाल से कहा 'तुम स्वयं इसे बराबर जाँचकर देखो। उसका शरीर एकदम ठंडा व कड़ा हो गया है।' कमाल ने कहा 'यह भी इसका ढोग ही है यह मैं बराबर जानता हूँ। शरीर ठंडा व कड़ा हो गया इसमें क्या है? मैं भी ऐसा कर सकता हूँ।' ऐसा कहकर कमाल ज़मीन पर लेटकर सो गया और सबके देखते देखते पल भर में मर गया।

अपने लड़के की मृत्यु पर रोनेवाले वे लोग अब कमाल की मृत्यु के लिये भी रोने लगे। पर कमाल तुरंत उठ बैठे और कहने लगे, 'देखा? मैं मर गया-सा हो गया, फिर भी सजीव खड़ा हो गया हूँ। यह मुझे इसी प्रकार ठगाना चाहता है, पर वह इस ढोंग से मुझे ठंग नहीं सकता। कथा का अंत ऐसा है कि कमाल की सहज आत्मिक शक्ति के प्रताप से मरा हुआ लड़का भी सजीव हो उठा व उससे कमाल ने अपना दाँव

भी वसूल कर लिया। कथा का सार यही है कि शरीर की मृत्युमात्र से आत्मा का नाश नही होता। शरीर के साथ उसका संबंध केवल जन्म मरण से ही नहीं होता है तथा स्थूल शरीर के अंदर का उसका निवासस्थान, भृकुटी या किसी दूसरे चक्र में ध्यान लगाने के अभ्यास के कारण भृकुटी या दूसरी जगह होता है ऐसा भी मानना नहीं चाहिये। आत्मानुभूति की शुद्धावस्था कभी भी अनुपलब्ध नही रहती है। इतना ही नहीं पर वह मन की तीनों अवस्थाओं से परे होती है और उनमें से किसी एक से भी वह सीमित नहीं होती।

**भक्त**—हम यह मान लें कि आत्मा भृकुटी में नहीं बसती है तो भी जब हम निद्राधीन होते हैं तब आत्मा हृदय में ही विद्यमान रहती है इसे हम कैसे जान सकते है?

**म**—निद्रा में तुम जीवित थे या नही इसे तुम नहीं कह सकते। इसलिए तुम्हारा यह प्रश्न बिलकुल असंगत है।

**भक्त**—परन्तु मुझे निद्रा में हृदय के अन्दर आत्मानुभव होता नही है।

**म**—निद्रा में तुम जीवित नही थे ऐसा क्या तुम कह सकते हो? जिस प्रकार गाढ़ी निद्रा में भी तुम्हारा अस्तित्व रहता है फिर भी उस समय तुमको उसका भान नही होता, उसी प्रकार गहरी नींद के बीच में आत्मा का अनुभव (दूसरी दो दशाओं में होता है उसी तरह) हृदय में ही होता रहा, फिर

भी तुमको उसका भान नहीं था। इसलिए तुम यह शंका कर रहे हो।

भक्त—आत्मा का स्थान यद्यपि हृदय में है फिर भी आत्मानुभव चाहे किसी में हो सकता है ऐसा आपने कहा, तो क्या यह सम्भव नहीं कि भृकुटी पर उग्र ध्यान का अभ्यास करने से वह चक्र ही आत्मा का स्थान बन जाय?

म—जहाँ तक मनोनिग्रह के लिए एक विशेष स्थान को निश्चित करने के बाद ध्यान का अभ्यास एक निश्चित हद तक ही रहे वहाँ तक आत्मा के निवासस्थान के विषय का कोई भी विचार मात्र स्वानुभव रहित एक सिद्धान्त ही रहेगा। यदि तुम अपने को द्रष्टा मानते हो तो जिस स्थान पर तुम ध्यान लगाते हो वह दृश्य पदार्थ बन जाता है। यह केवल मानसिक भावना ही है। इससे उलटा जब तुम ही द्रष्टा को देखते हो तब तुम आत्मा में निमज्जित हो जाते हो, तुम और वह एक हो जाते हो; वही हृदय है।

भक्त—तो फिर भृकुटी पर ध्यान धरने के अभ्यास के लिए आप सलाह दे सकते है?

म—यह साधना का केवल एक मार्ग है। जिस चक्र पर ध्यान लगाते है उसके साथ तादात्म्य प्राप्त करने का साधक का लक्ष्य होना चाहिए। ऐसे अभ्यास द्वारा द्रष्टा से भिन्न दीखने-वाले चक्र का अन्त में अलग अस्तित्व बन्द हो जाता है।

भृकुटी पर इस प्रकार ध्यान लगाने का अभ्यास अच्छी साधना है। क्योंकि सभी विचार आरम्भ में ही शारीरिक (अथवा मानसिक) चक्षु द्वारा बाहर निकलते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो विचार 'दृष्टि' का अनुसरण करते हैं। भृकुटी पर ध्यान लगाने के अभ्यास से विचार एक निश्चित समय के लिए सफलतापूर्वक निग्रह में आते हैं।

ऐसा होने पर भी इतना ज़रूरी है कि भृकुटी पर ध्यान धरने की इस साधना के साथ-साथ जप भी साधक के लिए आवश्यक है। क्योंकि मन को संयमी या असंयमी बनाने के लिए शारीरिक चक्षु के महत्व के बाद शारीरिक कान का अत्यधिक महत्व है। मानसिक चक्षु के (पदार्थों के मानसिक चित्र के) महत्व के बाद मानसिक कर्ण का (विचार की मानसिक कल्पना का) महत्व माना जाता है। इन दोनों प्रकार से मन को काबू में लाकर बलवान बनाया जा सकता है या उसे स्वतंत्रता-पूर्वक विचरण करने का अवसर देकर कमज़ोर भी बनाया जा सकता है।

इस कारण से किसी चक्र पर, उदाहरण के लिए भृकुटी पर मानसिक चक्षु को लगाते समय तुमको नाम अथवा मन्त्र का मानसिक जप करने का अभ्यास भी चालू रखना चाहिए। ऐसा न करोगे तो ध्यान के केन्द्र तक नहीं पहुँच सकोगे। अन्त में ऊपर वर्णित साधना नाम, शब्द या आत्मा (इसे तुम चाहे जो

नाम दो) तुम्हारे पसन्द किये हुए केन्द्र के साथ तादात्म्य कर देती है। बाद को तो शुद्ध चैतन्य या एकमात्र आत्मा ही विलसती है।

भक्त—परन्तु श्रीभगवान हम को किसी विशेष चक्र पर ध्यान लगाकर अभ्यास करने का आदेश क्यो नही देते?

म—योगशास्त्र कहता है कि मस्तिष्क आत्मा का निवास-स्थान है। पुरुषसूक्त में हृदय को उसका स्थान बताया है। इस कारण उठनेवाली शंकाओ से साधक को बचाने के लिए मै कहता हूँ कि 'मै' अथवा 'आत्म चैतन्य' के सूत्र को पकड़ो और बाद को ठीक उसके मूल तक पहुँच जाओ। क्योकि इस अहंभाव के विषय में किसीको शंका नहीं हो सकेगी और प्रत्येक प्राणी को अन्त में अहंभाव के इस मूल को, आत्मा के पास ही पहुँचना है।

इसलिए तुम आत्मविचार का ('अहं' के मूल को शोधने के आत्मानुसन्धान का) अभ्यास करोगे तो तुम आत्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करनेवाले हृदय को पा सकोगे।

---

## 6. आत्मा और अहंता

भक्त—समुद्र में मिलनेवाली नदी जैसे अपना अलग अस्तित्व खो बैठती है वैसे ही मनुष्य का भी मृत्यु के बाद अलग अस्तित्व मिट जाता है या नहीं, जिससे कि उसका पुनर्जन्म ही न हो सके?

म—परन्तु पानी जब भाप बनकर पहाड़ों पर वृष्टि के रूप में गिरता है तब वह फिर नदी का रूप धारण कर समुद्र में जा पहुँचता है। वैसे ही जीवों का भी निद्रा में अलग अस्तित्व मिट जाता है और फिर अपने संस्कारों या पूर्ववासना के अनुसार जाग उठते हैं। वैसे मृत्यु के समय भी संस्कार-युक्त जीव नष्ट नहीं होते।

भक्त—यह कैसे संभव है?

म—डालों के कट जाने पर भी पेड़ फिर पनप उठता है। जब तक जड़ मज़बूत है तब तक पेड़ बराबर बढ़ता रहता है। वैसे ही मृत्यु के समय हृदय से मिल जाने के कारण संस्कार नष्ट नहीं होते, उचित समय पर पुनः उद्भूत हो जाते हैं। यही जीवों के पुनर्जन्म का हेतु है।

भक्त—असंख्य जीव और उनसे सम्बद्ध अपार विश्व हृदय में लय हुए सूक्ष्म संस्कारों से कैसे अनंत जीव तथा जीवों से भरा यह विशाल जगत उत्पन्न हो सकता है?

म—जैसे बहुत बड़ा बरगद का पेड़ एक छोटे बीज से फूट निकलता है वैसे ही यह नाम-रूपयुक्त जगत और जीव सूक्ष्म संस्कारों से उत्पन्न होते हैं।

भक्त—पूर्ण अर्थात् समष्टि रूप परमात्मा से व्यष्टि रूप जीव की उत्पत्ति कैसे होती है और फिर वह अपने उद्गम स्थान में कैसे जा पहुँचता है?

म—जैसे आग से चिनगारी निकलती है वैसे ही पूर्ण से जीव निकलता है। इस चिनगारी को ही अहंता कहते हैं। अहंकार की उत्पत्ति के साथ ही अज्ञानी उसे एक वस्तु के साथ मिला देता है। वह किसी वस्तु से मिले विना अलग नहीं रह सकता।

यह मिलन अज्ञान का परिणाम है और उस मिलन का नाश ही मनुष्य के प्रयत्नों का ध्येय है। दूसरी वस्तु के साथ एकीकरण के भाव का जब नाश हो जाता है तब अहंता विशुद्ध होकर अपने मूलाधार में जा मिलती है। अपने शरीर के साथ का झूठा मिलन ही देहात्मबुद्धि है। इस देहात्मबुद्धि के नष्ट होने पर ही सच्ची सफलता प्राप्त होती है।

भक्त—उसको निर्मूल करने का उपाय क्या है?

म—निद्रा में तुम देह और मन से मिले विना नही रहते? स्वप्न व जाग्रत अवस्थाओ में तुम उन दोनो से अभिन्न मिले रहते हो। यदि तुम शरीर ही हो तो सुषुप्ति में शरीर के विना तुम्हारा अस्तित्व कैसे रह सकता है? तुमसे जो भिन्न है उसीसे तुम अलग हो सकते हो। तुमसे जो अभिन्न है उससे अलग कैसे रह सकते हो? इसलिये अहंता और शरीर एक नही है। जागृत अवस्था में ही इसका अच्छी तरह अनुभव करना चाहिये। इस अनुभव प्राप्ति के लिये ही तीनों अवस्थाओ का अनुसंधान किया जाता है।

भक्त—जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओं से संबंधित अहंता उस एक परम तत्व की प्राप्ति कैसे कर सकती है जिसमें तीनों समाये हुए हैं?

म—अहंता के विशुद्ध रूप का अनुभव दो अवस्थाओं जागृति-स्वप्न—या दो विचारों के बीच में मिल जाता है। अहंकार उस कीड़े के समान है जो एक आधार को ग्रहण करने के बाद ही दूसरे को छोड़ता है। जब वस्तु या विचार के संबन्ध से वह छूटता है तब उसका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अनुसंधान करने पर इन अवस्थाओ के बीच में उठनेवाले उस अवकाश को ही नित्य व निर्विकार तत्व समझना चाहिये।

भक्त—जैसे जागृत अवस्था में रहते हैं वैसे ही इच्छानुसार सुषुप्तावस्था में भी चाहे जितने समय नहीं रह सकते हैं? इन तीनों अवस्थाओं के सम्बंध में ज्ञानी के अनुभव कैसे हैं?

म—तुम्हारी जागृत-अवस्था में भी सुषुप्तावस्था रहती है। अब भी तुम सुषुप्तावस्था में ही हो। उसे जागृत अवस्था में ही चेतनापूर्वक सुषुप्तावस्था में प्रविष्ट होकर पाना चाहिये। वस्तुतः वह न तो उसमें प्रविष्ट होता है और न उसे छोड़ता है। जागृत-अवस्था में ही सुषुप्ति का अनुभव करना जागृत-सुषुप्ति या समाधि अवस्था है।

अज्ञानी अधिक समय तक सुषुप्तावस्था में नही रह सकता। उसकी प्रकृति उसे उससे निकल आने के लिए विवश

करती है। उसकी अहंता मिटी नहीं है। वह बार-बार उठती रहती है। परन्तु ज्ञानी उसके मूल में ही अहंकार का नाश कर डालता है। उसमें भी वह अहंकार मानों प्रारब्ध के कारण कभी-कभी उठता-सा भास हो सकता है। अर्थात् जैसे अज्ञानी के सम्बंध में प्रारब्ध अहंकार को स्थिर बिठाता है ऐसे दिखाई देता है, ऊपर से ज्ञानी के विषय में भी ऐसा दीख सकता है। पर इसमें मौलिक अंतर है। अज्ञानी का अहंकार जब प्रकट होता है तब सचमुच वह गहरी निद्रावस्था को छोड़ और किसी से दबा हुआ नहीं रहता। उस अवस्था में उसे अपने मूल स्रोत का भान ही नही रहता है। या यो कहें कि अज्ञानी स्वप्न और जागृत अवस्था में अपनी सुषुप्तावस्था का ज्ञान नही रखता। ज्ञानी के सम्बंध में तो अहंकार का ऊपर उठना केवल भास मात्र है; इस अहंकार के उठने या बने रहने के भास से ही ज्ञानी अपने लक्ष्य को मूल स्रोत पर लगाकर अपने अटूट व परम तुर्यातीत अनुभवो का नित्य रसास्वदन करता रहता है। यह अहंकार भयरहित है। वह जली रस्सी का अवशेष मात्र है। उसका रूप तो बना रहता है पर बांधने के काम की नहीं है। उद्भवस्थान पर ध्यान देते रहने से अहंकार उस मूल में इस प्रकार समा जाता है जैसे नमक का पुतला समुद्र में।

**भक्त**—सूली पर चढाकर ईसा मसीह का वध किया गया था। इसका क्या महत्व है?

म—शरीर माने शूली और मनुष्य-पुत्र ईसा माने अहंभाव देहात्म बुद्धि पर चढाया जाता है तब अहंभाव नष्ट हो जाता है। जो बचता है वही पूर्ण ब्रह्म है। उसी प्रक्रिया को भव्य आत्मा का, भगवत्पुत्र ईसा का पुनरुत्थान कहते हैं।

भक्त—पर ईसा का वध न्यायसंगत कैसे माना जा सकता है? क्या मारना भयंकर पाप नहीं है?

म—यों तो संसार में प्रत्येक व्यक्ति आत्महत्या कर रहा है। अज्ञान में पड़कर हम अपनी शाश्वत, आनंदपूर्ण, स्वाभाविक स्थिति का नाश करते रहते हैं। इस तरह यह वर्तमान जीवन शाश्वत व यथार्थ जीवन के नाश पर टिका हुआ है। सचमुच यह क्या आत्महत्या नहीं है? तो फिर वध आदि की चिन्ता क्यों?

भक्त—श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि निर्विकल्प समाधि इक्कीस दिन से अधिक टिक नहीं सकती। यदि इसे बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। क्या यह सही है?

म—जब प्रारब्ध समाप्त हो जाता है तब अहंकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, उसका कोई नामोनिशान रह नहीं जाता। यही निर्वाण है। प्रारब्ध के समाप्त न होने पर तो अहंकार फिर जागता है, जैसे जीवन-मुक्तों के जीवन में वह उठता-सा दिखाई पड़ सकता है।

---

## 7. आत्मानुभूति

भक्त—आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?

म—आत्मानुभूति कोई बाहर की वस्तु नहीं कि उसकी पुनः प्राप्ति हो सके। वह तो पहले ही से विद्यमान है। 'मैंने अभी आत्मानुभूति नहीं की' इस आशयवाले भाव को मन से निकाल देना चाहिये।

निश्चलता या शान्ति ही आत्मानुभूति है। एक पल भी ऐसा नहीं है जब आत्मा विद्यमान न हो। जब तक संदेह हो या 'मैंने नहीं जाना' का भाव बना रहता है तब तक वैसे संदेह या उस प्रकार के विचार को मन से निकाल देने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। आत्मा को अनात्मा समझने के कारण से ही वे विचार उठते हैं। जब अनात्मा का नाश हो जाता है तब केवल विशुद्ध आत्मा बच रहती है। स्थान देने के लिये वहाँ की भीड़ को हटाना आवश्यक है; जगह तो कहीं बाहर से लानी नहीं है।

भक्त—यदि वासनाक्षय के बिना आत्मानुभूति संभव न हो तो प्राणी को इस जीवन में उस अवस्था की प्राप्ति कैसे हो सकती है जब कि उसकी वासनाएँ बिलकुल नष्ट न हुई हों?

म—उस अवस्था में तो तुम अब भी हो।

भक्त—क्या इसका यह मतलब यह है कि आत्मा में लीन रहते हुए वासनाएँ जैसे और जब उठें वैसे और तब उनका नाश करते रहना चाहिये ?

म—तुम जैसे हो वैसे ही बने रहो तो भी वे अपने आप नष्ट हो जावेंगी।

भक्त—मैं आत्मा को कैसे पा सकता हूँ ?

म—आत्मा को पाना ऐसा कुछ है ही नही। यदि पाने की बात होती तो उसका यह मतलब होता कि अब यहाँ वह नही है व उसे प्राप्त करना है। जिसकी नयी प्राप्ति होती है उसे खो भी सकते हैं। तब वह अनित्य ही होगा। जो अनित्य है उसके लिये प्रयत्न ही क्यों किया जाय? इसलिये मैं कहता हूँ कि आत्मा को पाना नहीं है। तुम ही आत्मा हो; तुम पहले ही से विद्यमान हो।

बात यह है कि तुम अपनी आनंदमय दशा से अपरिचित हो। बीच में अज्ञान आकर आनंदमय विशुद्ध आत्मा पर परदा डाल देता है। यह अज्ञानरूपी परदा जो कि मिथ्याज्ञान है उसे दूर करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। शरीर, मन आदि को 'आत्मा' मानते हो यही तुम्हारी भूल है। इसलिए मन से मिथ्या विचार को हटाना ज़रूरी है। ऐसा होने पर केवल आत्मा विलसित रहती है।

इसलिये आत्मानुभूति सबके लिए है। आत्मज्ञान के सम्बंध में मुमुक्षुओ के बीच में कोई अंतर उत्पन्न नही होता। 'मैं कर सकूँगा?' यह संदेह और 'मैंने जाना नही' ये विचार ही विघ्न रूप हैं। इसलिए पहले इन विघ्नों से छूटने का प्रयत्न करो।

भक्त—समाधि का उपयोग क्या है? क्या वहॉ विचार-शक्ति रहती है सही?

म—समाधि एक ही सत्य का दर्शन करा सकती है। विचार सत्य के ऊपर परदा डाल देते है। इसलिये समाधि को छोड़कर अन्य स्थिति में सत्य का दर्शन नही हो सकता।

समाधि में केवल 'मैं हूँ' की भावना रहती है; दूसरे विचार होते ही नही। निश्चल रहना ही 'मैं हूँ' की अनुभूति है।

भक्त—यहाँ मुझे समाधि या निश्चलता की जो अनुभूति मिलती है उसे अन्यत्र कैसे पा सकता हूँ?

म—यहाँ तुम, अपने को जिस वातावरण में पाते हो उसीके कारण तुम्हारी यह वर्तमान अनुभूति है। यह अनुभूति तुम इस वातावरण के बाहर भी पा सकते हो? तुम्हारी अनुभूति क्षणिक है। वह क़ायम न रहे तब तक उसे साधना आवश्यक है।

भक्त—जिसका अधिष्ठान जीवभाव से परे है और जिसके अंदर सब कुछ समाया हुआ है ऐसा भान जिसे होता है, ऐसे चैतन्य के स्पष्ट प्रकाश का अनुभव कई बार किसी विरले को ही

होता है। ज्ञान के सिद्धांतों को बाजू में रखकर, ऐसे दुर्लभ प्रकाश को प्राप्त करके टिकाये रखने व उसे उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिये भगवान मुझे कैसे उपाय की सलाह देते हैं? ऐसे अनुभव के अभ्यास में काम छोड़कर एकांतवास करना आवश्यक है?

म—'बाहर'? यह बाहर और भीतर किसके लिये है? जब तक कर्ता और कर्म हैं तभी तक ये सब टिक सकते हैं। और ये उभय भी किसके लिये हैं? खूब निरीक्षण करके देखोगे तो मालूम हो जायगा कि ये दोनों कर्ता में समा जाते हैं। अब सोचो कर्ता कौन है? यह विचार तुमको कर्ता से भी परे जो शुद्ध चैतन्य है वहाँ पहुँचाता है।

जीवात्मा माने मन है। यह मन परिमित है। पर विशुद्ध चैतन्य सीमाओं से परे है और उसकी प्राप्ति उपर्युक्त प्रकार से अन्वेषण करने से होती है।

*प्राप्ति*—आत्मा शाश्वत है। तुमको उसके दर्शन को अटकानेवाले परदे को हटाना चाहिये।

*स्थिर रखना*—एक बार यदि तुमको आत्मज्ञान हो जाय तब वह तुम्हारे नित्य प्रत्यक्ष अनुभव का सीधा विषय हो जाता है। वह सदा बनी रहेगी। उसे टिकाये रखने की बात ही नहीं उठती क्योंकि वह कभी गुम नहीं होती।

*बढ़ाना*—आत्मा को बढ़ाना तो होता ही नहीं है। क्योंकि वह सदैव संकोच व विस्ताररहित है।

*एकांतवास*—आत्मा की अनुभूति ही एकान्त है। आत्मा के लिये कोई वस्तु परायी नहीं है। एकांत के लिये एक स्थान या दशा से दूसरे स्थान या स्थिति में पहुँचना पड़ता है। आत्मा से भिन्न और कुछ है ही नही। जब आत्मा ही सर्वत्र है तब एकांत असंभव और अकल्प्य है।

*अभ्यास*—स्वाभाविक शान्ति में पड़नेवाली बाधाओं का निवारण ही अभ्यास है। तुम अभ्यास करो चाहे न करो स्वाभाविक स्थिति में सदा बने रहते हो। तुम जैसे हो वैसे रहकर प्रश्नरहित व शंकारहित बनकर रहना ही तुम्हारी स्वाभाविक दशा है।

भक्त—समाधि की प्राप्ति के बाद क्या मनुष्य को सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है?

म—सिद्धियो के प्रदर्शन के लिये उसे माननेवाले दर्शक की आवश्यकता होती है। अर्थात् सिद्धियो के प्रदर्शक में ज्ञान नही होता है। इसलिए सिद्धि का विचार करना ही अनुचित है। केवल ज्ञान हमारा लक्ष्य है। उसीको प्राप्त करना है।

भक्त—क्या मेरे आत्मज्ञान से दूसरो को लाभ मिल सकता है?

म—अवश्य। सचमुच यही सबसे बड़ी सेवा है जो तुम दूसरो की कर सकोगे। जिन महानुभावों ने जब कभी सत्य का दर्शन किया उनको अपनी आत्मा की प्रशांत गहराई में से ही

मिला है। पर वस्तुतः उस स्थिति में दूसरे कोई सहायक नहीं हैं। जैसे सोनार भिन्न-भिन्न गहनों की कीमत लगाने केवल सोने को कसकर देखता है वैसे ही सिद्ध पुरुष केवल आत्मा को देखता है। जब तुम अपने को शरीर मानते हो तभी नाम, रूप तुम्हारे सामने आते हैं। जब तुम देहभाव से आगे बढ़ जाओगे तब 'दूसरे' भी लुप्त हो जायंगे। ज्ञानी पुरुष जगत को अपने से भिन्न नहीं देखता है।

**भक्त**—साधु-संतपुरुष साधारण जनता के बीच में मिल-जुलकर रहें तो विशेष अच्छा नहीं होगा?

**म**—दूसरे कहाँ हैं कि उनसे मिल-जुलकर रहें? आत्मा ही साथ है।

**भक्त**—क्या दुखी जगत की सेवा नहीं करनी चाहिये?

**म**—तुमको जिसने पैदा किया उसीने जगत् की भी सृष्टि की। यदि वह सृष्टिकर्ता तुम्हारी रक्षा कर सकता है तो जगत् की भी रक्षा कर सकता है। यदि ईश्वर जगत् के सृष्टि-कर्ता हैं तो उसकी रक्षा करना भी उनका काम है, तुम्हारा नहीं।

**भक्त**—देशभक्त होना हमारा कर्तव्य नहीं है?

**म**—तुम्हारा कर्तव्य यह या वह बनना नहीं पर तुम्हारे मूल स्वरूप के अनुसार बनना है। केवल 'अस्मिता' 'हूँ' में सब समा गया है। 'स्थिर रहो' यही उसका सार है।

निश्चलता का अर्थ क्या है? वह है अपनेपन का नाश करो। नाम और रूप ही सारे दुखो का कारण है। 'मैं-मैं' आत्मा है। 'मैं यह हूँ' यह अहंकार है। जब 'मैं' का प्रतिपादन केवल 'मै' रूप में होता है तब वह आत्मा है। जब वह स्वरूप को छोड़कर इधर-उधर दौड़धूप करता है 'मैं यह हूँ, वह हूँ, मै ऐसा हूँ, वैसा हूँ' तब वह अहंकार है।

भक्त—तो फिर ईश्वर कौन है?

म—आत्मा ही ईश्वर है। 'मै हूँ' यह ईश्वर है। यदि ईश्वर आत्मा से भिन्न हो तो वह आत्म-रहित ईश्वर होगा। वह मूर्खता की बात है।

आत्मा की प्राप्ति के लिये केवल निश्चल बनना आवश्यक है। इससे आसान क्या हो सकता है? इसलिये आत्म-विद्या की प्राप्ति बहुत ही सुलभ कही गयी है।

---

## 8. गुरु और गुरु-कृपा

भक्त—गुरुकृपा क्या है? उससे आत्मज्ञान कैसे होता है?

म—आत्मा ही गुरु है। कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन से असंतुष्ट हो जाता है; उसके पास जो कुछ होता है, उससे संतुष्ट न होकर भगवत्प्रार्थना-पूजा आदि द्वारा वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। धीरे-धीरे उसका मन शुद्ध होने

लगता है और अंत में वह ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है कि वह अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के बदले केवल भगवत्कृपा पाने के लिये, उनके दर्शन करने के लिए झंखता रहता है। तब भगवान की कृपा का दर्शन होने लगता है। तब भगवान गुरु का रूप धारण कर भक्त को दर्शन देकर सत्य का बोध कराते है और सत्संग द्वारा उसके मन को विशुद्ध बनाते हैं। तब भक्त का मन बलवान होकर अंतर्मुख होने की शक्ति प्राप्त करता है। ध्यान द्वारा वह मन को और भी शुद्ध बनाता है और तरंगविहीन निश्चल बन जाता है। यह शान्ति-विस्तार ही आत्मा है।

गुरु आन्तरिक व बाह्य दोनों प्रकार के होते हैं। बाहर से वे मन को अंतर्मुख बनाने के लिए धक्का मारते हैं। अंदर से वे मन को आत्मा की ओर खींचकर उसे शान्त होने में सहारा देते हैं। यही गुरुकृपा है। इस प्रकार से ईश्वर, गुरु और आत्मा में कोई अंतर नही है।

**भक्त**—थियोसाफिकल सोसाइटी में लोग मार्गदर्शन करानेवाले गुरुओं की प्राप्ति के लिये ध्यान करते हैं।

**म**—गुरु अंदर ही हैं। वे बाहर हैं इस भ्रम को दूर करने के लिये ही ध्यान किया जाता है। यदि तुम किसी अनजान गुरु की प्रतीक्षा करते रहो तो वे अवश्य ही अदृश्य हो जायंगे। जीवन विकास में ऐसे अनित्य व्यक्ति का क्या उपयोग? पर जब तक तुम यह समझते हो कि तुम गुरु से अलग हो,

अथवा शरीर ही आत्मा है तब तक 'बाह्य' गुरु की आवश्यकता बनी रहेगी और वह गुरु सशरीर दर्शन देंगे। ज्यों ही तुम्हारा अपने आपको शरीर मानने का मिथ्या भ्रम दूर हो जायगा त्यो ही मालूम हो जायगा कि आत्मा के सिवाय कोई गुरु नही हैं।

भक्त—क्या गुरु दीक्षा आदि द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त कराने में हमें सहायता दे सकेंगे?

म—क्या गुरु तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हारे कान में कोई मंत्र फूकेंगे? तुम स्वयं जैसे हो वैसे ही गुरु की कल्पना करते हो। तुम्हारे शरीर है। इसलिए तुम समझते हो कि उनके भी शरीर है जिससे तुम्हारे लिये वे कोई स्पृश्य काम कर दिखलायेंगे। उनका काम तो अंदर आध्यात्मिक प्रदेश में है।

भक्त—गुरु कैसे मिल सकते है?

म—ईश्वर अंतर्यामी हैं। वे अपनी अपार कृपा द्वारा प्रेमी भक्त पर दया करते है और उस भक्त के विकास के अनुसार उसे दर्शन देते हैं। पर भक्त उनको एक मनुष्य समझता है और वह दो भौतिक देहों के बीच के संबंध की आशा रखता है। पर गुरु तो ईश्वर या आत्मा हैं। वे अंदर से काम करते हैं। भक्त को उसकी भूलें समझाने में मूर्तिमान सहायक बनते है और वह हृदयस्थ आत्मा का साक्षात्कार कर सके तब तक उसे सत्य मार्ग पर चलाते रहते है।

भक्त—तो फिर भक्त को क्या करना चाहिये?

म—उसको तो सतत गुरु के वचनों का पालन करते हुए अपने अंदर काम करते रहना है। वैसे गुरु बाहर व अंदर भी है और वे कभी कभी ऐसे संयोग भी पैदा करते हैं कि तुम अन्तर्मुखी बनो ; साथ ही अंदर के प्रदेश की ऐसी तैयारी करते हैं कि तुम हृदय-केंद्र में खींचे जा सको। इस तरह वे बाहर से धक्का देते हैं और भीतर से खींचते हैं जिससे तुम हृदय-केंद्र में दृढ बन जाओ।

तुम ऐसा समझते हो कि तुम अपने प्रयत्न से जगत को जीत सकते हो। जब तुम बाहर से निराश हो और ऐसी परिस्थिति में अन्दर की ओर घसीटे जाते हो तब तुम ऐसा समझने लगते हो कि मनुष्य से बढ़ कर दूसरी कोई महान शक्ति भी है।

अहंकार एक प्रबल हाथी के समान है। उसे काबू में लाना सिंह से कम शक्तिवाले के वश की बात नहीं है। इस उदाहरण में गुरु ही वह सिंह है, जिसकी दृष्टि मात्र से हाथी जैसा अहंकार थरथर कांपने लगता है और अंत में वह मर भी जाता है।

तुमको यथासमय अनुभव होगा कि तुम्हारे व्यक्तित्व के विनाश में ही तुम्हारा गौरव है। ऐसी स्थिति में पहुँचने के लिये तुम्हें आत्मसमर्पण करना चाहिये। आत्मसमर्पण के बाद गुरु को जब विश्वास होता है कि तुम मार्गदर्शन ग्रहण करने योग्य अवस्था में पहुँच गये हो तब वे तुम्हें सन्मार्ग पर चलाते हैं।

भक्त—जो गुरु दीक्षा न दें या दूसरा कोई स्पर्शनीय काम न करें उनके मौन को उनके वचन इत्यादि से अधिक समर्थ कैसे माना जाय? शास्त्रो के अभ्यास से भी ऐसा मौन कैसे अधिक महत्व रखता है?

म—मनुष्य का कर्म की ओर प्रवृत्त कराने में मौन अत्यंत शक्ति पूर्ण होने से साक्षात् ईश्वर है। शास्त्र चाहे जितने विशाल व प्रभावशाली हों तो भी वे परिणाम लाने में निष्फल होते है। गुरु मौनी होते है और उनकी कृपा सबमें व्याप्त है। संसार भर के समस्त शास्त्रो को एकत्रित करने पर भी मौन उन सबसे से अधिक विशाल व प्रभावशाली होता है।

भक्त—क्या भक्त परमानंद दशा को प्राप्त कर सकता है?

म—भक्त गुरु की शरण लेता है इसका अर्थ यह है कि उस समय उसमें उसके व्यक्तित्व का लेशमात्र भी अंश नहीं रहता। यदि शरणागति, स्वार्पण सम्पूर्ण हो तो अहंता की सारी भावना नष्ट हो जाती है। उसके बाद दुख या खेद रह ही नहीं सकता।

नित्य पुरुष परमानंद के सिवाय और कुछ नहीं है। यह अपने आप खिलता है।

भक्त—मै कैसे वह कृपा पा सकता हूँ?

म—आत्मा ही वह कृपा है। वह दूसरी जगह से प्राप्त करने की वस्तु नहीं होती। तुम्हें तो इतना ही जानना है कि वह विद्यमान है।

सूर्य केवल प्रकाश है। वह अंधकार को नहीं देखता। फिर भी हम सूर्य के निकलने पर अंधकार के भाग जाने की बात कहते हैं। वैसे ही भक्त का अज्ञान भी अंधकार के भूतों की तरह गुरु के कृपा-कटाक्ष से एक क्षण मात्र में पलायन कर जाता है। तुम्हारे आस-पास सूर्य का प्रकाश है; फिर भी यदि तुम सूर्य को देखना चाहते हो तो तुम्हें उसकी ओर मुड़कर उसके सामने देखना पड़ता है। वैसे ही कृपा भी सर्वत्र व्याप्त है फिर भी उसे पाने के लिये उचित मार्ग का ग्रहण करना चाहिये।

भक्त—मुमुक्षु को परिपक्वता शीघ्र पाने के लिए गुरु-कृपा उपयोगी होगी या नही?

म—यह सब काम तुम गुरु पर छोड़ दो। सबसे पहले तुम सम्पूर्ण तथा निःसंकोच अपना आत्म-समर्पण कर दो।

दो बातों में से एक को ज़रूर करो: कमजोरी मानकर किसी एक महत्तर शक्ति का सहारा आवश्यक समझ कर या तो उसकी शरण में जाओ या दुखों के मूल कारण को ढूँढ़ो उसके मूल तक पहुँचो व आत्मा में तल्लीन हो जाओ। इन दोनों में से किसी एक मार्ग को अपनाने पर दुखों से मुक्त हो सकोगे। शरण लेनेवाले भक्त को गुरु या ईश्वर कभी नहीं छोड़ते।

भक्त—गुरु या ईश्वर के सम्मुख साष्टाँग नमस्कार करने का महत्त्व क्या है?

म—साष्टांग नमस्कार अहंकार के नाश का सूचक है और उसका अर्थ है मूल परमात्म तत्व में मिल जाना। बाहरी वंदना या नमस्कार से ईश्वर या गुरु को धोखा नहीं दिया जा सकता। वे पहले हमारी कसौटी कर देखते हैं कि अभी इसमें अहंकार का अस्तित्व है या चला गया।

भक्त—अपनी कृपा के चिह्न स्वरूप भगवान अपने पत्र में से क्या थोड़ा सा प्रसाद भी नही देंगे ?

म—जो कुछ खाओ उसे 'अहं' भाव के ख्याल के विना खाओ। ऐसी परिस्थिति में तुम जो कुछ खाओगे वह भगवान का प्रसाद ही वन जायगा।

भक्त—पढ़े-लिखे मनुष्य को गुरु-कृपा की आवश्यकता नही होती, इसलिए ज्ञान प्राप्ति के लिये वे अधिक योग्य नहीं हैं ?

म—पढ़े-लिखे मनुष्य को भी अपढ़ ऋषि के सामने नमस्कार करना चाहिए। यदि निरक्षरता अज्ञान है तो शिक्षण भी साक्षरतायुक्त अज्ञान है। क्योंकि दोनो सच्चे हेतु के विषय में अनभिज्ञ हैं। ऋषि दूसरे प्रकार के अज्ञानी होते है। क्योकि उनके सामने कोई लक्ष्य नहीं होता।

भक्त—गुरु को जो भेंट दी जाती है क्या वह उनकी कृपा-प्राप्ति के लिये नही होती ? इसी उद्देश्य से आपकी सेवा में भी वहुत-सी चीज़ें लाकर रखी जाती है।

म—वे उपहार लाते ही क्यों हैं? क्या मुझे इन वस्तुओं की कोई आवश्यकता है? मैं मना करता रहता हूँ, तब भी वे बराबर लाते ही रहते हैं। क्यों? क्या यह मछली को पकड़ने के लिये कंटियों में भर दी जानेवाली खुराक के समान तो नहीं है? मछुआ वास्तव में मछली को खूब खिलाने के लिए आतुर नहीं होता है। वह तो मछली को पकड़कर खा जाने के लिए सदैव आतुर रहता है।

भक्त—थियोसाफिकल सोसाइटीवालों के मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व क्रमानुसार दीक्षा-ग्रहण में क्या महत्व है?

म—जो एक ही जन्म में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उन्होंने अपने पूर्व जन्मों में इन सभी दीक्षा क्रमों को पारकर लिया होगा।

भक्त—थियोसफ़ी में कहा जाता है कि ज्ञानी को विदेह हो जाने के बाद भी चार पांच प्रकार के कार्य अपनाकर करने पड़ते हैं। वे कार्य इहलोक में या परलोक में भी हो सकते हैं। इसमें भगवान की क्या राय है?

म—कुछ विरले ही आधिकारिक ज्ञानी ऐसे विशिष्ट काम करते हैं, सभी नहीं।

भक्त—आपको क्या कुछ ऐसे ऋषियों के भ्रातृ-मंडलों का परिचय है जो अदृश्य रहकर लोक कल्याण का कार्य करते रहते हैं?

म—यदि वे अदृश्य हैं तो उन्हें देखा कैसे जा सकता है?

भक्त—ज्ञान-दृष्टि, ध्यान में।

म—ज्ञान-दृष्टि में ज्ञान को छोड़कर और कुछ होता ही नहीं है।

भक्त—क्या मैं उनका साक्षात्कार कर जान सकता हूँ?

म—यदि तुम अपना सत्य रूप प्राप्त कर लो तो तुम्हें ऋषियो और ज्ञानियों का सच्चा रूप भी मालूम हो जायगा। ज्ञानी, गुरु केवल एक ही है और वे स्वयं आत्मा है।

भक्त—क्या पुनर्जन्म सत्य है?

म—जब तक अज्ञान रहता है तभी तक पुनर्जन्म का अस्तित्व बना रहता है। सचमुच पुनर्जन्म है ही नहीं। न वह पहले था, न अभी है और न आगे होगा। यही सत्य है।

भक्त—क्या योगी अपने पूर्वजन्म की बातें जान सकते हैं?

म—तुम अपने वर्तमान जन्म के विषय में क्या जानते हो कि जो पूर्व जन्म के विषय में जानना चाहते हो? वर्तमान को ढूँढ निकालो तो बाकी अपने आप ही मालूम हो जायगा। जब अपने वर्तमान के सीमित ज्ञान को लेकर तुम इतना दुःख सह रहे हो तो फिर और अधिक ज्ञान का बोझ क्यो ढोना चाहते हो? और भी दुःख सहने?

भक्त—भगवान किसी योग शक्ति का उपयोग करते हैं जिससे दूसरे भक्त लोग भी आत्मज्ञानी बन सकें या भगवान का साक्षात्कार ही वह काम कर देता है?

म—आत्मानुभूति की आध्यात्मिक शक्ति दुनिया-भर की योगशक्ति के उपयोग की अपेक्षा भी अधिक प्रबल है। ऋषि अहंकार रहित होते हैं इसलिये उनको उनसे भिन्न दूसरे कोई नहीं हैं। उनका ऐसा कौन-सा सर्वोत्कृष्ट लाभ है जो तुमको दिया जा सकता है? उनके पास तो केवल आनंद है जो शान्ति से उत्पन्न होता है। शान्ति वहीं टिक सकती है जहाँ चंचलता न हो। चंचलता मनमें उठने वाले विचारों के कारण होती है। जब मन नष्ट हो जाता है तब पूर्ण शान्ती विराज रहती है। जब तक मनुष्य मन का विलय नहीं कर सकता तब तक वह शान्ति और सुख पा नही सकता। यदि वह स्वयं सुखी न हो तो फिर 'दूसरों' को वह सुख कैसे दे सकता है? जिन ऋपियों ने मनोनाश कर लिया है उनकी दृष्टि में कोई दूसरा नहीं होता। इसलिये उनकी आत्मानुभूति ही दूसरों को सुखी करने के लिये पर्याप्त है।

---

## 9. शान्ति और सुख

**भक्त**—मैं और किस प्रकार से शान्ति पा सकता हूँ? मालूम होता है कि केवल आत्म-विचार द्वारा मैं शांति पा न सकूँगा।

म—शान्ति तुम्हारी सहज स्थिति है। इस सहज स्थिति में वाधा डालनेवाला मन है। 'विचार' तुम्हारा मन से ही उत्पन्न

होता है। यदि इसकी ठीक ठीक शोध हो कि मन क्या चीज है तो वह अदृश्य हो जायगा। विचार से भिन्न मन जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। फिर भी विचार के उत्पन्न होने पर तुम उसके उद्गम स्थान की कल्पना करके उसे मन कहते हो। लेकिन जब तुम तल्लीन होकर उसका अनुसंधान करने लगोगे तो तुम्हें पता लगेगा कि असल में मन जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। जब मन इस तरह नष्ट हो जायगा तब तुम शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकोगे।

भक्त—काव्य, संगीत, जप, भजन, सुंदर प्राकृतिक दृश्यो के दर्शन और आध्यात्मिक श्लोको के पठन आदि द्वारा कभी कभी सर्वव्याप्त एकता की सच्ची अनुभूति हुआ करती है। उस गहरी आनंदपूर्ण शान्ति की अनुभूति (जिसमें जीवात्मा को कोई स्थान नहीं है) 'हृदय-प्रवेश' की भगवान जो चर्चा किया करते हैं उसकी जैसी है या कुछ भिन्न? इस अभ्यास को चालू रखा जाय तो क्या उस गहरी समाधि में पहुँच सकेंगे जिससे कि अंत में उस सद्वस्तु का दर्शन हो सके?

म—जब मन के सामने उसकी प्रिय वस्तुएँ आती है तब उसे सुख मिलता है। यह आनंद आत्मा के लिये स्वाभाविक है। उससे भिन्न उसके लिए कोई दूसरा आनंद नहीं हो सकता। वह न बाहर है, न दूर। जिसे जब तुम सुखदायक मानते हो उस समय ऐसे प्रसंगो में तुम आत्मा में निमज्जन करते हो। संग के इस मज्जन के कारण तुमको आत्मगत आनंद मिलता है। पर तुम्हारे मन में

उठनेवाले विचारों के कारण तुमको वह आनंद दूसरी वस्तुओं या घटनाओं में दीखता है। सचमुच वह आनंद तुम्हारे अंदर ही है। इस प्रसंग में तुम अनजान होकर आत्मा में ही डुबकी मारते हो। एक मात्र सत्य स्वरूप आत्मा जो वास्तव में आनंद है वह और तुम एक ही हो, ऐसे अनुभव से उत्पन्न श्रद्धा और ज्ञान के साथ यदि तुम डुबकी मारो तो तुम उसे आत्मप्राप्ति कह सकते हो। मैं चाहता हूँ कि तुम आत्मा में अर्थात् हृदय में ज्ञानपूर्वक डुबकी मारो।

---

# श्रीरमण वाणी—भाग 2

## 1. आत्मविचार

भक्त—कोई अपनी आत्मा को कैसे पहचाने ?

महर्षि—तुम किसकी आत्मा शोधना चाहते हो ।

भक्त—मेरी ही तो, लेकिन मैं हूँ कौन ?

म—इसका तुम स्वयं ही पता लगा लो ।

भक्त—मैं नहीं जानता तो पता कैसे लगाऊँ ?

म—थोड़ा इस प्रश्न का चिन्तन तो करो । 'मैं नहीं जानता' यह कहनेवाला कौन है ? तुम जो नहीं जानते वह क्या है और जो जाना नही जाता वह भी क्या है ?

भक्त—(हँसकर) मेरे अंदर जो है वही ; कौन और क्या इसे मै नहीं जानता ।

म—'कौन' यह कहनेवाला कौन है ? और फिर वह 'कौन' किसके अंदर है ?

भक्त—शायद कोई शक्ति हो या फिर दूसरा ही कुछ हो ।

म—और भी पता लगाओ ।

भक्त—मैं क्यो पैदा हुआ ?

म—कौन पैदा हुआ ? तुम्हारे सभी प्रश्नो का यही जवाब है ।

भक्त—यदि आपके कथनानुसार ऐसा ही हो तो भी मेरी जिज्ञासा है कि मैं कौन हूँ ?

म—(मुस्कुराते हुए) भाई, क्या मेरी परीक्षा लेने आये हो ? यह बात तो तुम्हें ही बतलानी होगी कि तुम कौन हो।

भक्त—मैं बहुत प्रयत्न करता हूँ फिर भी उस 'मैं' का पता ही नहीं लगता। वह ऐसा है या वैसा, यह भी बहुत प्रयत्न करने पर भी दिखलाई नही पड़ता।

म—वह कौन है जो कहता है कि 'मैं' दीखता ही नहीं है ? क्या तुम्हारे अंदर 'मैं' दो हैं जिसमें कि एक 'मैं' को न जाननेवाला दूसरा 'मैं' भी है ?

भक्त—'मैं कौन हूँ' इस विचार के बदले मैं 'आप कौन है ?' यह प्रश्न पूछूँ ? उस स्थिति में मेरी समग्र दृष्टि आप पर स्थित होगी। मैं आपको गुरु के रूप में प्रत्यक्ष भगवान मानता हूँ। 'मैं कौन हूँ' के बदले इस नयी विचारणा द्वारा संभवतः मैं अपने लक्ष्य के पास शीघ्र पहुँच सकूँगा।

म—तुम्हारे प्रश्न का चाहे जो रूप हो तुम्हें तो अंत में आत्मा का जो एक मात्र 'मैं' है उसीकी प्राप्ति करनी है।

यह जो 'मैं' और 'तुम' अथवा 'गुरु' और 'शिष्य' का अंतर है वह सब हमारे अज्ञान का चिह्न है। वह मात्र एकमेव अहंस्वरूप परमात्मा है। इसके सिवाय दूसरी भावना केवल भ्रम

ही है। इस विषय में ऋभु मुनि और उनके शिष्य निदाघ की पौराणिक कहानी बहुत ही बोधप्रद है।

यद्यपि ऋभु ने अपने शिष्य निदाघ को एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म का बोध कराया था तो भी निदाघ ज्ञानमार्ग का अवलंबन कर उसके अनुसार आचरण करने योग्य दृढ़ निश्चय प्राप्त नहीं कर सका था। उसमें उतना विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ था। वह अपने ही गाँव में रह कर कर्मकांडी का जीवन बिताने लगा।

गुरु पर शिष्य का कम पूज्यभाव नहीं था और शिष्य पर गुरु का भी कम प्रेम नहीं था। वयोवृद्ध होने पर भी ऋभु समय-समय पर उसके यहाँ जाकर उसे देख लिया करते थे कि शिष्य कर्मकाण्ड के मार्ग से कहाँ तक आगे बढ़ा है। कभी-कभी वे वेष बदलकर भी जाया करते थे जिससे कि उन्हें निदाघ के दैनिक आचरण का सच्चा पता उनकी अनुपस्थिति में लग सके।

ऐसे ही एक समय ऋभु 'गंवार का रूप बनाकर निदाघ के यहाँ जा पहुँचे। उस समय निदाघ बड़ी तत्परता के साथ राजा का जुलूस देख रहा था। गँवार ने निदाघ से पूछा—'यह धमाल किसलिए है?' उस ने गुरु को नहीं पहचाना व उन्हें गँवार ही समझकर उपेक्षा पूर्वक कहने लगा: 'देखते नहीं हो, राजा का जुलूस है?' गँवार ने पूछा: "महाराजा का जुलूस तो जा रहा है? पर आप श्रीमान कहाँ है?"

निदाघ ने जवाब दिया—" उधर देखो हाथी पर।"

गंवार—" अच्छा, हाथी पर राजा हैं। ठीक, ठीक ; मुझे दो दीखते हैं। इनमें राजा कौन हैं और हाथी कौन है ?"

निदाघ—" कैसा गँवार है, तू! दो को तो देखता है पर यह नहीं जानता कि ऊपर आसीन मनुष्य राजा हैं और नीचे का जानवर हाथी है! तेरे जैसे आदमियों से तो बोलना भी व्यर्थ है।"

गंवार—" मेरे जैसे अज्ञानी से क्रोधित मत होइये आप। पर अभी जो 'ऊपर, नीचे' कहा, उसका क्या मतलब है, क्या इसे आप बराबर समझावेंगे ?

अब निदाघ आपे से बाहर हो कर बोला " तू राजा और हाथी को देखता है और यह भी देखता है कि एक ऊपर है और दूसरा नीचे। फिर भी पूछ रहा है कि 'ऊपर' क्या है और 'नीचे' क्या है ? यदि देखी हुई वस्तु व बताये हुए शब्दों का भी तुझ पर कोई असर ही नहीं पड़ता तो अब तुझे दूसरी तरह से प्रत्यक्ष सिखाना होगा। इसलिए अब तू जरा नीचे झुक जा और मैं तुझे समझाता हूँ। तभी तू समझेगा।"

गँवार झुक गया। निदाघ उस पर चढ़ बैठा और बोला : " ले अब सीख, मैं 'ऊपर' हूँ इसे इस प्रकार समझ ले कि मैं महाराजा हूँ और तू 'नीचे' है तो समझ ले कि तू ही हाथी है। अब आयी बात समझ में ?"

गँवार ने कहा—"ना भैया! तू कहता है कि तू ऊपर राजा होकर बैठा है और मै नीचे हाथी जैसा खड़ा हूँ। 'राजा' और 'हाथी', 'ऊपर' और 'नीचे' इतना तो मै समझ पाया हूँ। ज़रा यह तो बता कि 'मै' क्या है और 'तू' क्या है?

जब 'मै' से भिन्न 'तुम' की व्याख्या करने का महान् प्रश्न उसके सामने प्रत्यक्ष उपस्थित हुआ तब निदाघ की आँखें एकदम खुल गयीं और वह फौरन गँवार की पीठ से कूद पड़ा और उनके चरणो में गिरकर गिड़गिड़ा कर कहने लगा: "आप तो मेरे परम गुरु ऋषि महाराज ही है। इस संसार में और कौन है कि जो इस भौतिक जीवन से मेरे मन को इस प्रकार बाहर खींचकर सद्वस्तु विवेक की ओर प्रेरित करे? दयामय गुरु महाराज! आपसे आशीर्वाद चाहता हूँ। मेरा उद्धार कीजिये।"

मतलब यह है कि आत्मविचार द्वारा यदि इस भौतिक जीवन से ऊपर उठना हो तो स्थूल शरीर से संबंध रखनेवाले 'तू' और 'मै' के बीच के भेद को मिटाना होगा। यदि तुम विचार-मात्र के मूल की ओर अपने मन को अंतर्मुख कर डालो तो 'तू' कहाँ और 'मैं' कहाँ? इस प्रश्न का उत्तर अपने आप मिल जायगा। इस प्रकार अनुसंधान करते करते जिसके अंदर सभी समा जाते है ऐसी आत्मा में तुमको दृढ़ होना चाहिये।

भक्त—पर क्या यह बड़ी हँसी की बात नहीं है कि हम 'मै' 'मैं' को ही खोजते रहें? "मैं कौन हूँ" की विचारणा

अंत में एक सूत्र जैसी ही मालूम नही होती है? अथवा क्या 'मैं कौन हूँ' को दोहराते हुए मैं अनंत काल तक अपने आप से पूछता ही रहूँ?"

म—आत्मविचार निरा सूत्र नही है। वह मंत्रोच्चारण तथा जप से भी श्रेष्ठ है। यदि "मैं कौन हूँ" वाली विचारणा मानसिक प्रश्न परंपरा ही हो तो उसकी कोई अधिक विशेषता नहीं रहेगी। आत्म-विचार का मूल आशय ही समग्र मन को उसके मूल स्थान में एकाग्र करना है। इसलिये एक "मैं" के दूसरे "मैं" की खोज में जाने की बात ही नहीं है।

आत्मविचार नया सूत्र नहीं है। क्योंकि वस्तुतः वह मन को समग्र शुद्ध आत्मजाग्रति में स्थिर करने का निदिध्यास ही है।

तुम जो शुद्ध परिपूर्ण सद्वस्तु तत्व हो उसका साक्षात्कार करने के लिये आत्मविचार ही एकमात्र रामवाण साधना है।

भक्त—आत्मविचार को ही ज्ञान की प्रत्यक्ष साधना क्यों माना जाय?

म—क्योंकि आत्मविचार के सिवा अन्य सब साधनाओं में मन को टिकाये रखना पड़ता है और मन की स्थिरता के विना उसका अभ्यास हो ही नहीं सकता। साधना की भिन्न भिन्न स्थितियों में अहंकार विभिन्न सूक्ष्म रूप धारण करता रहता है पर वह कभी निर्मूल नहीं होता।

जनक महाराज ने जब यह कहा कि "इतने लंबे समय तक मेरा सत्यानाश करनेवाले चोर को मैंने पकड़ लिया है। अब इसे मैं मार डालूँगा" तब सचमुच वे अहंकार या मन को ही चोर कह रहे थे।

भक्त—परंतु क्या दूसरी साधनाओं द्वारा उस चोर को पकड़ा नहीं जा सकता है?

म—आत्मविचार को छोड़कर अन्य साधनाओं द्वारा अहंकार या मन को नष्ट करने का प्रयत्न वैसा ही है जैसा चोर का कोतवाल बनकर चोर को अर्थात् अपने आप को पकड़ने जाना। सचमुच अहंकार या मन का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है इस सत्य का दर्शन करानेवाला एकमात्र आत्मविचार ही साधक को आत्मा के शुद्ध चैतन्य की कैवल्य दशा का साक्षात्कार करा सकता है।

आत्मप्राप्ति होने के बाद प्राप्त करने के लिये और कुछ अवशिष्ट रह ही नहीं जाता। क्योंकि वही पूर्णानंद दशा है, वही सर्वस्व भी है।

भक्त—उपाधियों से पूर्ण इस जीवन में मैं क्या कभी पूर्णानंद प्राप्त कर सकता हूँ?

म—यदि श्रद्धा के साथ प्रयत्न करो तो तुमको यह अनुभव होगा कि पूर्णानंद तो तुम्हारा स्वागत करने के लिये सदा तैयार ही है।

जीवन में तुम्हारे दुःखों का कारण बाह्य जगत नहीं है। वह अहंकार के रूप में तुम्हारे अंदर ही रहा हुआ है। तुम स्वयं अपने पर उपाधियाँ लादते रहते हो और फिर उनसे छूटने का व्यर्थ प्रयास करते हो। सभी दुखों का कारण अहंकार है। उसी से सभी आपदाएँ बढ़ती रहती हैं। सब दुखों का मूल तुम्हारे ही अंदर है, तब उसको जीवन की घटनाओं में बताने से क्या फ़ायदा है? फिर तुमसे भिन्न इन बाह्य वस्तुओं से तुम्हें कौन-सा सुख मिल सकेगा? यदि उनसे कदाचित मिल भी गया तो वह कब तक टिकेगा?

यदि तुम अहंकार का नाश कर दो, उसको जला डालो तो तुम मुक्त हो जाओगे। यदि तुम उसे जगह दोगे तो वह विघ्न बाधाएँ उत्पन्न करेगा और फिर तुम्हें उन से छूटने के लिए व्यर्थ प्रयत्न में लगे रहना होगा। राजा जनक का चोर इसी तरह उनका 'सत्यानाश' करना चाहता था।

जो तुम्हारा सत्य स्वरूप है उसमें स्थिर रहना अर्थात् आत्मनिष्ठ होना यही तुम्हारा सहज-सुख प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।

**भक्त**—केवल आत्मा ही सत्य है इसे तो मैने अभी जाना ही नहीं। इसलिए साधना के लिये विचारमार्ग की अपेक्षा क्या भक्ति और योगमार्ग का अवलंबन मेरे लिये अधिक उपयोगी व

अनुकूल नहीं होगा? क्या मेरे जैसे सामान्य मनुष्य के लिये ब्रह्मज्ञान दुर्लभ नहीं है?

म—ब्रह्मज्ञान कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है कि जिसे पाने के बाद साधक आनंद का अनुभव कर सके। साधक के लिए आवश्यक है अज्ञान को दूर करना। जिस आत्मा को तुम खोज रहे हो वह तुम स्वयं ही हो। तुम्हारा कल्पित अज्ञान ही तुमको अनावश्यक दुख देता रहता है, जैसे कभी न खोये अपने साथी को, दस मूर्खों ने अपने को छोड़कर अवशिष्ट व्यक्तियो को गिनकर जब केवल नौ को ही पाया तब दसो ने माना कि दसवॉ खो गया है। यहॉ भी कुछ वैसा ही कल्पित अज्ञान।

कथा ऐसी है; एक बार दस मूर्खों को नदी पार करनी पड़ी। जब वे सामने के किनारे पर पहुॅच गये तब वे यह जानना चाहते थे कि हम सब सही सलामत तो पहुॅच गये। पहले एक आदमी गिनने लगा। उसने अपने को छोड़कर बाकी सब को गिना तो केवल नौ को पाया। उसने कहा: "मै तो केवल नौ को ही देखता हूँ। हम में एक अवश्य ही खो गया। वह कौन है?" दूसरे ने कहा: "क्या तुमने ठीक ठीक गिना?" फिर वह खुद गिनने लगा और उसको भी केवल नौ ही दिखायी पड़े। इस तरह दसो ने गिना और दसों ने गिनने में अपने को छोड़ दिया, इसलिये नौ को ही पाया। अब सब लोग इस बात पर तो सहमत हो गये कि वे केवल नौ ही रह गये है। पर

प्रश्न यह था कि वह खोया हुआ दसवाँ कौन है? उसका पता लगाने में वे सभी असफल रहे। उनमें से एक ने कहा: "वह चाहे जो हो एक दसवाँ तो अवश्य ही गुम हो गया।" वह यह कहकर रोने लगा तब बाकी सभी भी रोने लगे।

तब उस रास्ते से एक दयालु यात्री जा रहा था। इन लोगों को रोते देख उसने इन लोगों के पास आकर पूछा कि क्या बात है? उन लोगों ने सारा किस्सा सुनाया और कहा: "हम निकले तब दस थे। पर अब कई बार हम में से हर एक ने अलग अलग गिनकर देखा तो हम नौ ही हैं।" यात्री ने देखा कि दसों सामने मौजूद हैं। उसको उन लोगों की मूर्खता मालूम हो गयी। उन्हें यह समझाने के लिये कि वे सचमुच दस हैं और दसों सकुशल नदी के पार पहुँच गये हैं, यात्री ने कहा—"अब सुनो। मैं तुम में से हर एक के एक एक थप्पड लगाऊँगा। ज्यों ही पहले आदमी के तमाचा लगे त्यों ही वह एक दम एक कह उठे। इस तरह दस तक हर आदमी अपनी संख्या बतावे। कोई भी दो बार न बोले। इस तरह करने से तुम्हारा खोया हुआ आदमी मिल जायगा।" अपने खोये हुए साथी को पाने की खुशी में उन लोगों ने फ़ौरन यात्री की बात मान ली।

यात्री ने इन दसों के एक एक तमाचा मारा और ज्यों ज्यों वे तमाचा खाते गये त्यों त्यों क्रम से अपनी संख्या बोलते गये। अंतिम आदमी के मुँह से जब 'दस' निकला तब उन लोगों के

आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उन लोगो को अब निश्चित रूप से मालूम हो गया कि वे दसो के दसों सजीव खड़े है। अपनी चिंता दूर करनेवाले यात्री का उन लोगों ने आभार माना।

इस कथा में दसवां मनुष्य कहाँ से आया? क्या वह सचमुच गुम हो गया था? जब उन्होंने देखा कि दसवाँ तो वही उनके बीच में ही था तब क्या उन्होंने किसी नयी बात को जाना? उनके दुख का कारण सचमुच किसी का गुम हो जाना नहीं था; उनका अज्ञान ही—एक खो गया यह भ्रम ही—उनके दुख का कारण था। वे समझते थे कि उन्होने नौ ही गिने है। इसलिये उनमें से एक व्यक्ति तो अवश्य ही गुम हो गया है, ऐसा उनका यह कल्पित भ्रम ही उनके दुख का कारण था।

तुम्हारी भी ठीक यही स्थिति है। सचमुच तुम्हें संतप्त और दुखी होने का कोई कारण नही है। तुम जो स्वयं परिपूर्ण तत्व हो उसका सत्य स्वरूप परिमित है ऐसी अपनी मिथ्या धारणा के कारण तुम अपने आप को मात्र व्यष्टि जीव मानकर विलाप करते हो। फिर तुम कल्पित उपाधियों से छुटकारा पाने के लिये विविध साधनाओ का आश्रय लेते हो। परंतु यदि तुम्हारी साधना ही स्वयं उपाधियों की सत्यता मानती हो तो फिर उससे तुमको वहाँ से किस प्रकार मदद मिल सकती है?

इसलिये मैं कहता हूँ कि तुम्हीं सचमुच केवल शुद्ध तत्व हो, अखंड विशुद्ध आत्मा हो इस बात को अच्छी तरह जान लो। तुम सदा सर्वदा आत्मा ही हो, इसलिये आत्मा के विना दूसरा कुछ है ही नही। इसके बाद तुम अपने सत्य स्वरूप के संबंध में अज्ञान में फंसे नहीं रह सकते। तुम्हारा अज्ञान वैसा ही कल्पित है जिस प्रकार खोये हुए दसवें मनुष्य के सम्बंध में उन मूर्खों की अज्ञानता थी। इस भ्रम के कारण ही उन्हें दुख हुआ था।

इस तरह ज्ञानोदय होने से किसी नये सत्य स्वरूप की उत्पत्ति नही होती। उससे केवल मिथ्या भ्रम नष्ट होता है। आनंद स्वरूप जो कि तुम्हारी नित्य, निर्विकारी व सहज दशा है ऐसा दर्शन तुमको ज्ञानोदय होते ही अपने आप हो जाता है। इसके सिवाय ज्ञानोदय से तुम्हारी सहज दशा में कोई वृद्धि नहीं होती। आत्मज्ञान प्राप्त करना आत्मनिष्ठ होना यही एकमात्र तुम्हारे दुखो के निवारण का सच्चा मार्ग है। बोलो क्या इसकी प्राप्ति असंभव है?

---

## 2. साधना और कृपा

**भक्त**—अनंत काल से ईश्वर का शोध होता आया है। क्या इस सम्बंध में अब तक कोई अंतिम निर्णय पर पहुँच सका है?

(श्रीमहर्षि कुछ देर तक मौन रहते हैं।)

भक्त—(कुछ घबराहट से) क्या मैं यह समझ लूं कि भगवान का मौन ही मेरे प्रश्न का उत्तर है?

म—हाँ। ईश्वर मौन स्वरूप ही है। तभी तो कहा है:—"मौनव्याख्या प्रकटितपरब्रह्मतत्त्वम्" अर्थात् मौन व्याख्या द्वारा परब्रह्म का सत्य स्वरूप प्रकट हुआ है।

भक्त—कहा जाता है कि बुद्ध भगवान ने ईश्वर के ऐसे शोध की अवगणना की थी।

म—और इसीलिये वे बाद में 'शून्यवादी' कहलाये थे। बात यह है कि वे ईश्वर आदि विषयक शास्त्रीय चर्चा करने के बदले जिज्ञासु को अभी व यहीं परमानंद प्राप्त करने का बोध कराते थे।

भक्त—कहा जाता है कि ईश्वर व्यक्त की तरह अव्यक्त भी है। जगत उसके सत्स्वरूप का एक अंश है, इसलिए वह उसके स्वरूप में समा जाता है। यदि यही बात हो तो हम भी जगत के एक अंश है। इसलिए ईश्वर का वह व्यक्त रूप हमारे द्वारा भी आसानी से पहचाना जाना चाहिये।

म—ईश्वर और जगत के स्वरूप का निर्णय करने के पहले अपने स्वरूप को तुम पहिचानो।

भक्त—क्या अपने स्वरूप को जानने पर ईश्वर को जान सकते है?

म—हाँ, ईश्वर तुम्हारे अंदर ही है।

भक्त—तब फिर मुझे अपने को या ईश्वर को पहिचानने के मार्ग में कौनसी बाधा रुकावट डाल रही है ?

म—तुम्हारा चंचल मन और उलटा मार्ग।

भक्त—मुझमें त्रुटियां भरी पड़ी हैं। पर मेरे अंदर के अंतर्यामी की अपार शक्ति मेरी बाधाओं को दूर क्यों नहीं करती ?

म—यदि तुम्हारी श्रद्धा टिकी रहे तो बाधाएँ अवश्य दूर कर दी जायंगी।

भक्त—वही शक्ति मुझमें श्रद्धा भी क्यों नहीं उत्पन्न करती ?

म—इसके लिये तुमको उनकी शरण में जाना चाहिये।

भक्त—यदि मैं आत्मसमर्पण कर दूँ तो क्या फिर प्रार्थना की आवश्यकता नहीं रहेगी ?

म—शरणागति ही महान और प्रबल प्रार्थना है।

भक्त—पर क्या यह आवश्यक नहीं है कि आत्मसमर्पण के पहले उसके सत्यस्वरूप का परिचय प्राप्त कर लूं ?

म—यदि तुम्हारी यह भावना हो कि तुम जो-जो चाहते हो वह सब ईश्वर ही तुमको दे तो तुम आत्मसमर्पण करो, नहीं तो ईश्वर को एक बाजू में रखकर पहले तुम अपने स्वरूप को पहचानो।

भक्त—क्या ईश्वर या गुरु को मेरे लिए किसी प्रकार की चिंता हो सकती है ?

म—सचमुच ईश्वर और गुरु दोनो एक ही हैं। यदि तुम सच्ची लगन के साथ उन दो से एक की शरण में जाओ तो निश्चय समझो कि तुम अभी जो उनके संबंध में कल्पना करते हो, उससे भी अधिक तुम्हारी चिंता कर वे तुमको अपनी तरफ़ खींच लेंगे।

भक्त—ईसा मसीह की खोये हुए सिक्के की एक कथा है। उसमें कहा गया है कि जब तक वह सिक्का मिला तब तक उस देवी ने उसकी खोज चालू रखी थी।

म—हाँ। यह इस सत्य को सप्रमाण सिद्ध करती है कि ईश्वर या गुरु सदा सर्वदा सच्चे साधक की खोज में रहते हैं।

यदि वह सिक्का किसी धातु का टुकड़ा होता तो वह देवी उसकी खोज में उतना अधिक समय न लगाती। इसका अर्थ तुमने बराबर समझ लिया? साधक को अपनी भक्ति आदि साधन द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त करनी चाहिये।

भक्त—परंतु ईश्वरकृपा का विश्वास कैसे किया जाय?

म—तुम्हारे अपरिपक्व मन को ईश्वरकृपा का अनुभव न होता हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वरकृपा नहीं होती है। यदि वास्तविक बात यही हो तो इसे यो समझना चाहिये कि कभी-कभी ईश्वर कृपालु नहीं होते अर्थात् ईश्वर मर जाते हैं। पर यह बिलकुल असंभव है।

भक्त—ईसा का यह कथन कि "जैसी श्रद्धा होती है वैसा फल मिलता है" क्या आप भी वही कहते हैं?

म—हाँ, ठीक वैसा ही ।

भक्त—मैंने उपनिषद् का ऐसा कथन सुना है कि आत्मा जिस पर प्रसन्न हो वही आत्मा को पहचान सकता है । आत्मा को किसलिए प्रसन्न होना चाहिये ? यदि प्रसन्न भी हो तो अमुक व्यक्ति पर ही क्यों ?

म—जब सूर्य उगता है तब कोई कोई कली ही खिलती है, सभी कलियाँ नही । क्या इसके लिये तुम सूर्य को दोष दोगे ? कली कहीं अपने आप खिल नहीं सकती । उसको सूर्य के प्रकाश की ज़रूरत होती है ।

भक्त—आत्मा ने स्वयं अपने पर माया का आवरण डाल रखा है, इसलिए यों नहीं कह सकते है कि उसे निकालने के लिये आत्मा की सहायता की भी आवश्यकता है ?

म—कहा जा सकता है ।

भक्त—यदि आत्मा ने ही अपने ऊपर आवरण डाल रखा हो तो उसी को उसे उतार कर क्यों नहीं फेंक देना चाहिये ?

म—हाँ, परंतु आवरण किसके लिये है पहले इसकी तलाश कर देखो ।

भक्त—मुझे क्यों इसकी तलाश कर देखना चाहिये ? आत्मा को स्वयं ही अपना आवरण निकाल देना चाहिये ।

म—यदि आत्मा ही आवरण के विषय में बोले तो वह स्वयं ही उसे निकाल भी देगी ।

भक्त—क्या ईश्वर (साकार) पुरुष हैं?

म—हाँ, वे सदा सर्वदा प्रथम पुरुष 'मैं' है और वे सदैव तुम्हारे समक्ष ही रहते है। तुम ऐहिक पदार्थों पर प्रीति रखते हो इसलिए ईश्वर कहीं छिपे-से दीखते है। यदि तुम और सब का त्यागकर केवल उसी की खोज में लग जाओगे तो वे केवल 'मै' रूप में अर्थात् आत्मरूप में विलसते रहेंगे।

भक्त—नौकरी का त्यागपत्र देकर सदा के लिये श्रीभगवान के समक्ष ही रहने की मेरी बड़ी तीव्र इच्छा होती है।

म—भगवान सदाकाल तुम्हारे साथ और तुम्हारे अंदर रहते है। तुम्हारे अंदर की आत्मा ही भगवान है। इसका साक्षात्कार करने के लिए नौकरी का त्यागपत्र देने या घर छोड़ने की क्या आवश्यकता है?

भक्त—संन्यास द्वारा सांसारिक आसक्तियो को छोड़ने और संसार का त्याग करने की मेरी उत्कट इच्छा है।

म—वेश-भूषा में बाहरी परिवर्तन अथवा केवल गृह-त्याग ही संन्यास नहीं है। कामनाओ, विषयो और आसक्तियों का त्याग ही सच्चा संन्यास है।

भक्त—परंतु संसार से बाहर निकले बिना ईश्वर की अनन्यभक्ति नहीं हो सकती है।

म—यह बात भी ठीक नही है। जो सचमुच त्याग करता है वह संसार में वस्तुतः समा जाता है। उसका प्रेम इतना बड़ा

विशाल बन जाता है कि उसमें सारे विश्व का समावेश हो जाता है। घर छोड़कर काषाय वस्त्र धारण करने की अपेक्षा विश्व-प्रेमी बनना ही भक्त की सच्ची वृत्ति व लक्षण है।

भक्त—परंतु घर में आसक्तियाँ प्रबल रहती हैं।

म—जो घर में रहकर अपने निकट के संबंधों का त्याग कर सकते हैं वे सचमुच ज्ञाति व जाति की मर्यादा से परे होकर सारे संसार के प्रति प्रेम से बरतते हैं।

भक्त—मन में रहनेवाली आसक्तियों को निकाल फेंकने के लिए क्या संन्यास सर्वोत्तम साधन नही है?

म—जिनका मन स्वयं अनासक्त हो गया है उनके लिये संन्यास सर्वोत्तम साधन क्या हो सकता है? उनको संन्यास की क्या आवश्यकता है? मालूम होता है तुमने संन्यास का गूढ़ार्थ अभी तक बराबर नही समझा। पर जिन महा पुरुषोंने संसार का त्याग किया है उन लोगों ने अपने कुटुंब के प्रति असंतोष होने के कारण संन्यास धारण नहीं किया पर समस्त मानव जाति और सब प्राणियों के प्रति उदार व विशाल प्रेम होने के कारण किया है।

भक्त—जीवन में किसी समय तो कुटुंब के बंधन टूटने ही वाले हैं फिर मैं अभी क्यों न तोड दूँ जिससे मैं सबके साथ समान प्रेम से रह सकूँ?

म—जब तुम सचमुच सब पर समान रूप से प्रेम रखोगे और वह व्यापक बनकर सारी सृष्टि को अपनावेगा तब तुम्हें किसी

भी वस्तु का त्याग करने की अवश्यकता नहीं रहेगी। जिस प्रकार पेड़ की डाल पर से पका फल स्वभावतः झड़ पड़ता है उसी प्रकार तुम भी झड़ जाओगे। तब तुममें ऐसी श्रद्धा जगेगी कि सारा विश्व तुम्हारा घर बन जायगा 'वसुधैव कुटुंबकम्' वाले हो जाओगे तब तक कुटुंब का त्याग करने की बात करना मूर्खता है।

भ—अद्वैत मार्ग के अनुसार मुक्ति की अंतिम दशा जीव व ब्रह्म का ऐक्य भाव है। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुसार केवल अनुभव में ही पृथक भाव रहता है; द्वैत के अनुसार तो ऐक्य भाव है ही नहीं। इन तीनों में से किस मत को सच्चा माना जाय?

म—भविष्य में अमुक समय क्या होगा इस बात की चिंता भी हमें क्यो करनी चाहिए?

'मैं' हूँ इसके विषय में सब आत्मवादियों का एक मत है। स्वयं वेदांत संप्रदाय का अनुयायी हो तो भी सच्चे साधक को सबसे पहले 'मै' का अनुसंधान ही करना चाहिए और 'मैं कौन हूँ?' की विचारधारा सतत चालू रखनी चाहिए। तभी 'मैं' अर्थात् आत्मा परमात्मा के साथ ऐक्यभाव प्राप्त करती है या उससे भिन्न रहती है, इसे दरसाने वाली मुक्ति का सच्चा स्वरूप समझने योग्य समय उसे मिलेगा। इसलिए पहले ही से अंतिम दशा के विषय में हमें क्यों निर्णय कर लेना चाहिए?

भक्त—परंतु क्या साधक के लिए अंतिम दशा का ज्ञान उपयोगी और मार्गदर्शक नहीं बन सकता है?

म—अभी से उसका निर्णय करने से कोई लाभ नहीं है।

भक्त—क्यों?

म—क्योंकि तुम्हारा सिद्धांत ही खोटा है। तुम्हारा निर्णय तुम्हारी मनोवृत्ति के अनुसार होता है। मन को आत्मा से प्रकाश मिलता है। यदि स्वयं साधन आत्मा का स्वरूप निश्चित करने निकले तो वह बड़ा भारी घमंडी समझा जायगा।

बुद्धि कभी भी न तो आत्मा के पास पहुँच सकती है और न उसकी प्राप्ति कर सकती है। वह आत्मानुभूति की दशा समझने में सर्वथा असमर्थ है। अनुभूति की अंतिम स्थिति किस प्रकार की होती है, इसका निर्णय वह किस तरह कर सकेगी? यह तो सूर्य के प्रकाश को उसके मंडल के पास ही एक मोमबत्ती के जितने प्रकाशवाले मापदंड से मापने के बराबर हुआ। सूर्य से बहुत दूरी पर ही बेचारी मोमबत्ती गल जाती है। बुद्धि की भी यही स्थिति होगी। इसलिए इस व्यर्थ के विवाद को छोड़कर नित्य और अपरोक्ष आत्मा के दर्शन की साधना में अभी लग जाना चाहिए।

---

## 3. ज्ञानी और जगत

भक्त—क्या ज्ञानी जगत को देखता है?

म—यह प्रश्न किसके लिये है? ज्ञानी या अज्ञानी के लिए?

भक्त—निःसंदेह अज्ञानी के लिए ही।

म—क्या जगत स्वयं अपनी सत्यता सिद्ध करना चाहता है? क्या यह शंका स्वयं तुम्हारी अपनी नहीं है? पहले इसे जान लो कि शंका करनेवाला कौन है? बाद में जगत सत्य है या मिथ्या इसका विचार अपने आप हो जायगा।

भक्त—जिस प्रकार अज्ञानी जगत व पंचेंद्रियो से ग्रहण किये जानेवाले विषयो को देखता है क्या उसी प्रकार ज्ञानी भी देखते है या नहीं?

म—तुम जगत देखते हो ऐसा कहते हो, पर क्या तुम्हारे बिना पदार्थ का किसी भी प्रकार का ज्ञान हो सकता है? तुम जो द्रष्टा हो उसे पहले पहचाने बिना दृश्य-जगत के सच्चे स्वरूप को कैसे जान सकते हो? ज्ञानेन्द्रिय तुम्हारे सामने के पदार्थों को देखती है यह ठीक है, परंतु यह प्रश्न क्या तुम्हारे शरीर के लिये उठता है? 'मै पदार्थो का अनुभव करता हूँ इसलिए यह सत्य है?" क्या शरीर ऐसा कहता है अथवा जगत यो कहता है कि 'मैं जगत हूँ?'

भक्त—ज्ञानी दृश्य जगत को कैसे देखता है और ज्ञानानुभूति के बाद वह पुनः उन पदार्थों को देखता है या नहीं? यही मेरा प्रश्न है।

म—आत्मानुभूति के बाद जगत का क्या होता है इसकी और जगत की चिंता तुम्हें क्यो करनी चाहिये? पहले आत्मा का साक्षात्कार करो। फिर जगत दीखे या न दीखे उससे तुमको

क्या लेना-देना है? निद्रा में जगत दीखता नहीं है उससे क्या तुम्हारी हानि कुछ होती है? और इस समय जब कि तुमको जगत दीख रहा है तब तुम्हारा क्या कुछ लाभ होता है? ज्ञानी अज्ञानी दोनों के लिए इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि उनको जगत दीखे या न दीखे पर दोनों के दृष्टिबिंदु में अंतर है।

**भक्त**—यदि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को जगत एक ही प्रकार का दीखता है तो उनके दृष्टिकोण में कैसे अंतर हो सकता है?

**म**—ज्ञानी जब जगत को देखते हैं तब वे जगदाधार-रूपी अपनी आत्मा को भी उसमें देखते हैं। पर अज्ञानी जगत को देखते या न देखते समय अपने सत्य स्वरूप से अनजान रहता है।

सिनेमा के खेल के समय परदे पर होनेवाले चलचित्रों का ही उदाहरण लें। खेल शुरू होने के पहले तुम्हारे सामने क्या होता है? केवल परदा रहता है जिस पर तुम सारा खेल देखते हो। ऊपर ऊपर से तो उस पर चित्र सच्चे मालूम होते हैं; पर इन चित्रों को पकड़ने जायँ तो वे क्या हाथ में आ सकते हैं? परदे के आधार पर जो चित्र सच्चे दीखते हैं उनके बदले केवल परदा ही हाथ में आता है। खेल पूरा होने के बाद चित्र अदृश्य हो जाते हैं तब सामने क्या रहता है? पहले पहल दिखाई देनेवाला परदा ही।

आत्मा के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये। क्यो कि यहाँ वहाँ सर्वत्र वही एक मात्र विलसती रहती है। चित्र तो आते जाते रहते है। यदि तुम आत्मा में लीन रहोगे तो तुम चित्रो के दृश्यों से ठगे नही जाओगे। आत्मदर्शन के वाद चित्र दीखें या अदृश्य हो जॉय उसकी चिंता नहीं रहेगी। जिस प्रकार मनुष्य परदे को छोड़कर चित्रो को सत्य समझने का भ्रम करते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जगत को आत्मा से भिन्न और सत्य मानने के भ्रम में पड़ा रहता है। जैसे परदे के विना चित्र नही होता है वैसे ही आत्मा के विना जगत का भी अस्तित्व नहीं है ऐसा ज्ञान जिसको सतत वना रहता है वह भ्रम में नहीं पड़ता। ज्ञानी जानते है कि परदा और चित्र दोनों आत्मा ही है। चित्र न हो तो आत्मा अव्यक्त स्वरूप में रहती है और चित्र हों तव व्यक्त रूप में रहती है। आत्मा के एक या दूसरे रूप में रहने से ज्ञानी को कुछ भी नही होता। वे सदा आत्मरूप में ही रमण करते रहते हैं। परंतु अज्ञानी जव ज्ञानी को भिन्न-भिन्न कार्यों में लगा हुआ देखता है तव वह भ्रम में पड़ जाता है।

भक्त—यही वात समझने के लिए मैने आपसे पहला प्रश्न पूछा था। ज्ञानी जगत् को हमारी तरह देखते है या नहीं और यदि देखते हैं तो कल जो वह चित्र विचित्र ढंग से गुम हो गया उसके विषय में भगवान ने क्या सोचा, यह जानने की मेरी वड़ी इच्छा है।

म—(हँसकर) क्या तुम मदुरा के मंदिर के चित्र की बात करते हो? थोड़ी देर पहले सब लोग उसे बारी-बारी से देखते थे। किसीने उसे किसी पुस्तक के अंदर भूल से रख दिया होगा।

भक्त—हाँ, वही घटना। चित्र को खोजने के लिए भारी प्रयत्न किया गया, फिर भी वह नहीं मिला। जिस समय उसकी खास आवश्यकता थी ठीक उसी समय वह गुम हो गया। उसका भगवान पर क्या असर पड़ा?

म—कल्पना करो कि तुमने रात्रि में ऐसा एक स्वप्न देखा कि जिसमें तुम मुझे अपनी जन्मभूमि की तरफ़ ले जाते हो। जागने के बाद तुमने मुझसे पूछा कि "मुझे भी ऐसा स्वप्न आया था? क्या आपने भी कोई ऐसा स्वप्न देखा था और उसमें क्या आपको ऐसा आभास हुआ कि मैं आपको अपनी जन्मभूमि की ओर ले जाता था?" इस प्रश्न को तुम कितना महत्व देते हो?

भक्त—चित्र की घटना श्री भगवान के समक्ष ही हुई थी।

म—चित्र देखने के लिए हाथ में लेना, उसका अदृश्य होना और फिर तुम्हारा इस तरह प्रश्न करना यह सब मन की ही प्रवृत्ति है। एक पौराणिक कथा इस बात को स्पष्ट करती है:—पंचवटी से सीता का हरण होने के बाद श्रीरामचंद्र 'हे सीता, हे सीता' विलाप करते हुए उसकी खोज में निकले। इस घटना को आकाश में विहरते शंकर पार्वती ने देखा। पार्वती ने कहा,

"आप श्रीरामचंद्र को पूर्ण पुरुषोत्तम मानकर उनकी स्तुति करते थे। पर अब सीता से बिछुड़ जाने के कारण देखिये वे कैसे दुखी हो रहे है?" शंकर ने उत्तर दिया: "यदि तुमको श्रीरामचंद्र की पूर्णता में शंका हो तो तुम स्वयं उनकी परीक्षा कर देखो। तुम अपनी योगमाया द्वारा सीता का रूप धारण कर उनके सामने उपस्थित हो जाओ"। पार्वती ने वैसा ही किया। सीता का रूप लेकर श्रीराम के सामने खडी हो गयी। तब भी श्रीराम उससे बिलकुल विचलित न होकर पूर्ववत् बराबर 'हे सीता! हे सीता!' विलाप करते हुए अपना रुदन चालू रखा। इससे पार्वती बहुत आश्चर्यचकित हो गयीं।

भक्त—मैंने इस कथा का तत्व नहीं समझा।

म—वास्तव में यदि श्रीराम सीताजी के शरीर की खोज में होते तो खोयी हुई सीता के रूप में उपस्थित पार्वती के शरीर में अवश्य उसे देख लेते। परंतु असल बात यह नहीं थी। उनकी दृष्टि में खोयी हुई सीता और अब उनके सामने पार्वती के रूप में उपस्थित सीता दोनो मिथ्या थीं। श्रीराम सचमुच चक्षुविहीन नहीं थे। सीता का पर्ण-कुटी में होना, वहाँ से उसका हरण होना, उसके बाद उसकी खोज में श्रीराम का स्वयं निकलना और सीता के रूप में पार्वती का आना, ये सब बातें श्रीराम जैसे ज्ञानी के लिए मिथ्या थीं। खोये हुए चित्र के विषय में मेरा क्या विचार है, सो तुम अब साफ़ समझ गये या नहीं?

**भक्त**—मैंने अब भी कुछ नहीं समझा। जगत् कई प्रकार से देखा जाता है व उसका अनुभव भी कई प्रकार का होता है। फिर भी क्या यह सब स्वप्न या कल्पना ही है?

**म**—यदि तुम केवल सत्य का ही शोध करते हो तो जगत् को मिथ्या मानने के सिवाय कोई चारा नही है।

**भक्त**—क्यों?

**म**—क्योंकि जगत् सत्य है, इस ख़्याल को जब तक न छोड़ोगे तब तक तुम्हारा मन हमेशा उसके पीछे दौड़ता रहेगा। यद्यपि सत्य सर्वत्र एक ही विद्यमान है, फिर भी जो सचमुच असत्य है उसे यदि तुम सत्य मानते हो तो तुम स्वयं सत्य को भी कभी जान नही पाओगे। यह बात रज्जु-सर्प के रूपक से बिलकुल साफ़ मालूम हो जायगी। तुम जब तक सर्प देखते हो तब तक तुमको उसमें रस्सी नही दीखती। तुमको कल्पित सर्प सत्य दीखता है और यथार्थ रस्सी सत्य नहीं लगती।

**भक्त**—जगत् अंत में परम सत्य नही है, इसे स्वीकार करना बिलकुल सरल है। परंतु यह सचमुच असत्य ही है, ऐसा मानना कठिन है।

**म**—जब तुम स्वप्न में रहते हो तब तुम्हें इसी प्रकार स्वप्न-जगत् सत्य लगता है। जब तक स्वप्न जारी रहता है तब तक तुम जो-जो देखते हो या जो कुछ अनुभव करते हो वह सब वस्तु तुमको सत्य प्रतीत होती है।

भक्त—तब क्या जगत् की सत्यता स्वप्न की सत्यता जैसी ही है?

म—स्वप्न में रहते हो तब स्वप्न को सत्य मानने में क्या तुमको जरा भी दोष मालूम होता है? जब किसी मृतक मनुष्य के साथ बात करने जैसा असंभावित स्वप्न तुमको आता है तब क्या क्षण-भर के लिए भी तुमको यह शंका होती है कि 'वह मनुष्य तो मर गया है?' परंतु उस समय तुम्हारा मन स्वप्न दृश्य के अनुरूप हो जाता है और वह उसे सत्य मानता है। स्वप्न चालू रहता है तब तक उस मृतक मनुष्य का जीवित रहना ही तुम्हें सत्य लगता है। स्वप्न-काल में उसकी सत्यता के विषय में तुम्हारे मन में शंका उत्पन्न ही नहीं होती। इसी प्रकार तुम्हारी जाग्रत अवस्था के बीच इस जगत् की सत्यता के विषय में तुम शंका ला ही नहीं सकते। जो मन जगत् को उत्पन्न करता है वही उसे मिथ्या कैसे स्वीकर करे? जाग्रत दृश्य का जगत् और स्वप्न जगत् इन दोनो की समानता सिद्ध करना केवल मन की ही कल्पना है। जब तक मन इन दो में से एक में ही लगा रहता है तब तक स्वप्नावस्था में स्वप्न जगत् की और जाग्रत अवस्था में जाग्रत-जगत् की सत्यता को वह इनकार नहीं कर सकता। इससे विपरीत यदि तुम अपने मन को जगत् से विमुख कर अंतर्मुख करोगे और उसी दशा में दृढ़ हो जाओगे अर्थात् तुम सब अनुभवों की आधाररूपिणी आत्म जागृति क़ायम रखोगे तो तुम अब जिस

जगत् में जीवित रहते हो वह भी स्वप्न-जगत् की तरह मिथ्या मालूम होगा।

भक्त—मैंने पहले कहा था वैसे हम कई प्रकार से जगत् को देखते हैं व उसका अनुभव भी करते हैं। स्वप्न में बनता है वैसे ये सब अनुभव केवल मन के ही गढ़े नहीं होते। इतना तो स्पष्ट है कि स्वप्न में देखे पदार्थों का असर भिन्न-भिन्न मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इतना ही नहीं, परंतु एक ही मनुष्य पर भी उसका असर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जाग्रत जगत् ऐसा नहीं है। इसलिए जगत् की बाहरी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है?

म—स्वप्न में देखी ये सब असंगत बातें और स्वप्न-जगत् के साथ उनका संबंध ये सब तुम्हारे जागने के बाद ही उपस्थित होते हैं। स्वप्न में जब तुमको प्यास लगती है तब तुम उस मिथ्या प्यास को, मिथ्या पानी पीकर मिथ्यारूप में नहीं बुझाते? परंतु स्वप्न ही मिथ्या था, ऐसा अनुभव जब तक तुमको नहीं होता तब तक तुम्हें वह मिथ्या स्वप्न सत्य भासित होता है। जाग्रत जगत् की भी यही बात है। अब तुम्हारे सभी अनुभव एकत्रित होकर तुम पर ऐसा प्रभाव डाल रहे हैं जिससे तुम उन्हें सत्य मानते हो।

इससे विरुद्ध यदि जाग्रत जगत् सत्य हो तो फिर वह निद्रा में क्यों नहीं दीखता? निद्रा में यह जगत् था यह बात

अनुभव से सिद्ध नही हो सकती। परंतु निद्रा में तुम्हारा स्वयं का अस्तित्व था, इसके विषय में क्या कभी कोई शंका रहती है सही?

भक्त—नीद में अपना भान न रहना स्वाभाविक है। नींद में मुझे जगत् दीखता नही है तो भी नींद में उसके अस्तित्व को इनकार नही करता। उस समय उसका अस्तित्व नही मिटता। नीद में मैने चाहे उसे न देखा हो, परंतु उस समय जो नीद में नही थे ऐसे कई लोग उसे देखते ही रहते थे।

म—नीद में भी तुम्हारा अस्तित्व था इसे सिद्ध करने के लिए तुम्हें क्या दूसरे साक्षियों की आवश्यकता होती है? तो फिर अब तुमको उन साक्षियों की क्यो आवश्यकता हुई? (तुम्हारी निद्रा में) जगत को देखनेवाले वे 'दूसरे' तुम्हें जगाते है। तभी यह बात तुम से कह सकते है। परंतु तुम्हारे अस्तित्व की बात इससे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि जागकर तुम स्वयं कहते हो कि मैं खूब सोया अर्थात् गहरी निद्रा में भी इस हद तक निद्रा का भान रहा पर जगत् के उस समय के अस्तित्व का लेशमात्र भी विचार तुमको निद्रा में नही होता। अभी भी जब कि तुम जाग्रतावस्था में हो ऐसे समय में भी क्या जगत तुमसे यह कह रहा है कि वह सच है या तुम स्वयं ही ऐसा कहते हो?

भक्त—नि संदेह, मैं स्वयं ही जगत के विषय में कह रहा हूँ।

म—तब तो जगत् तुम्हारी हँसी उड़ावेगा कि "तुम अपने सत्य स्वरूप को जानने के पहले जगत् की सत्यता सिद्ध करने निकले हो?" तुम किसी भी प्रकार से जगत् की सत्यता सिद्ध करना चाहते हो? सत्य की व्याख्या क्या है? जो शाश्वत स्वतःसिद्ध और स्वयं प्रकाशित है वही केवल सत्य है। क्या जगत् स्वतः सिद्ध है? क्या मन की सहायता के बिना वह टिक सकता है? निद्रा में मन नही होता। उसी प्रकार जगत् भी नहीं होता। जाग्रत होते ही वह मन को जानने लगता है और सत्य जगत् को जान लेता है। नित्य परस्परावलंबी इन दो वस्तुओं का क्या अर्थ समझा जाय?

क्या तर्क शास्त्र के अनुमान आदि सिद्धांतों का तुमको ज्ञान है? वह भौतिक शास्त्र का आधार स्तंभ माना जाता है। तो फिर तुम इन मान्य सिद्धांतों के द्वारा ही जगत् की सत्यता के प्रश्न का निर्णय क्यों नही करते?

'मैं हूँ' ऐसा जगत् स्वयं नहीं कह सकता। परंतु तुम ऐसा कह सकते हो। क्योकि तुम्हारा अस्तित्व निरा अस्तित्व ही नहीं परंतु उसके साथ भान भी तो होता है। वास्तव में यह अस्तित्व और भान एक ही हैं।

भक्त—जगत् को चाहे अपना भान न हो फिर भी उसका अस्तित्व नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है?

म—भान माने आत्मज्ञान ही। जब तुमको दूसरी किसी वस्तु का भान होता है तब वास्तव में तुमको अपने निजका ही आभास होता है। अपने भान के बिना का अस्तित्व विपरीत वस्तु है। ऐसा कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह केवल कल्पित वस्तु है। जब सच्चा अस्तित्व या सत् है वह कोई कल्पित वस्तु नहीं हो सकती; परंतु सर्वत्र सद्वस्तु है। इसलिए सत्य सत्-चित् कहलाता है और ये दोनों एक दूसरे के साथ होते है तथा एक दूसरे से कभी भी अलग नहीं होते। पहले बताया है उसके अनुसार जगत् अकेला अपने आप टिक नहीं सकता वैसे ही उसे अपने अस्तित्व का भान भी नही होता अर्थात् जो स्वयं सिद्ध नहीं है वैसे वह स्वयंप्रकाश भी नहीं है। ऐसे जगत को सत्य किस प्रकार कह सकते है?

इस जगत का स्वरूप भी कैसा है? इसमें सदैव परिवर्तन होता ही रहता है। परावलंबी, आत्मज्ञान रहित और सदा परिवर्तनशील जगत सत्य हो ही नही सकता।

भक्त—पश्चिम का विज्ञान जगत को सत्य मानता है। इतना ही नहीं परंतु वेदोमें इस ब्रह्मांड और उसकी उत्पत्ति के विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होते है। यदि जगत मिथ्या होता तो ऐसे वर्णन किस कारण से दिये गये है?

म—वेद और उपनिषदो का मुख्य आशय तुमको आत्मा की अमरता का बोध देकर अधिकारपूर्वक यह

घोषणा करने का रहा था कि 'तत् त्वमसि' अर्थात् वह तू ही है।

भक्त—मैं इसे मानता हूँ परंतु वेदों ने यदि जगत को सत्य न माना होता तो उनमें इतने लंबे-चौड़े विवरण किस उद्देश्य से दिये गये हैं?

म—तुम्हें तो जो सिद्ध हो गया है उसका आचरण कर बाकी को छोड़ देना चाहिये। शास्त्रों को सत्य के प्रत्येक प्रकार के शोधक को मार्ग बताना है और सब लोग एक ही प्रकार के मानसिक वृत्तिवाले नहीं होते। इन्हीं कारणों से शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कथन देखने में आते हैं। उनमें जो स्वीकार करने योग्य न हो उन्हें अर्थवाद मानकर छोड़ देना ही उचित है।

---

## 4. (हृत् + अयम्) हृदय ही आत्मा

भक्त—श्रीभगवान हृदय को चैतन्य का अधिष्ठान कहते हैं और उसे और आत्मा को एक ही मानते हैं। परंतु सचमुच हृदय का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

म—तुम चैतन्य के मूल को ढूंढ निकालने के लिए उत्सुक हो। इसीलिए तुम हृदय के विषय में यह प्रश्न पूछ रहे हो। विवेकी लोग सदा सत्स्वरूप की विचारणा में तथा मनस्तत्व के निर्णय में स्वभावत: अधिक रस लेते हैं।

चाहे जिस नाम से बुलाओ परंतु ईश्वर, आत्मा, हृदय या चैतन्य का अधिष्ठान ये सब एक ही है। ग्रहण करने की बात यह है कि हृदय वास्तव में हमारे स्वस्वरूप का अधिष्ठान है जिसके विना और कुछ भी नही है। उसी में यह सब समाया हुआ है।

**भक्त**—परंतु श्रीभगवानने इस जड़ देह में हृदय का स्थान छाती के मध्य स्थान से दाहिनी तरफ़ दो अंगुल दूर बताया है।

म—हाँ, ऋषियो के अनुभवानुसार वह आध्यात्मिक अनुभव का केन्द्र है। यह आध्यात्मिक हृदय केन्द्र, रक्त का संचरण करनेवाले अवयव से बिलकुल भिन्न ही है। वह तो तुम्हारे स्वरूप का सत्व ही है। **तत्वमसि-वह तू ही है।** सब कुछ वही है। जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति की तीनो दशाओं और तुम्हारी प्रवृत्तियों के बीच में तथा गाढ समाधि में भी तुम वही हो।

**भक्त**—यदि बात ऐसी ही हो तो उसे शरीर के अमुक भाग में रहनेवाला कैसे मान सकते हैं? यदि ऐसा मानें तो जो देश काल से परे है और भौतिक उपाधि रहित है क्या वह परिमित नही बन जाता है?

म—यही सच है। परंतु जो व्यक्ति हृदय के अधिष्ठान को जानना चाहता है वह मानता है कि उसका अपना अस्तित्व शरीर में है। अब यह प्रश्न पूछते समय क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारा शरीर ही यहाँ है और तुम स्वयं दूसरे किसी स्थान

से बोल रहे हो ? नहीं, तुम अपने देहभाव को सहज मानते हो। इस दृष्टि से ही जड़ देह का उल्लेख करने में आता है।

सच कहें तो शुद्ध चैतन्य एक और अविभाज्य है। उसका न स्वरूप है और न वह 'अंदर-बाहर' है। न उसकी दाईं-बाईं सी कोई वस्तु है। हृदय के शुद्ध चैतन्य में सब का समावेश होता है। उससे भिन्न कुछ है ही नहीं। यही अनंत सत्य है।

ऐसी परम दशा में आत्मा अर्थात् हृदय का कोई विशिष्ट स्थान स्थूल शरीर में नियत नहीं किया जा सकता।

**भक्त**—इसका कारण क्या है ?

**म**—क्योंकि शरीर मन की उत्पत्ति के सिवाय और कुछ नहीं है। और मन भी क्या है ? वह स्वयंप्रकाश हृदय का छोटा प्रतिबिंब है। जिसके अंदर सभी वस्तुएँ समायी हुई हैं वह तत्व अपने अल्प दृश्यरूपी जड देह के अंदर कैसे समा सकता है ?

परंतु अज्ञानी यह नहीं समझता। वह देह और मन के बिना इस तत्व का विचार ही नही कर सकता।

उदाहरण के लिये तुम इस बात को लो: तुम कहते हो कि "मैं हिमालय से आगे बहुत दूर मेरे प्रदेश से यहाँ आश्रम में आया हूँ"। परंतु वास्तव में यह सच्ची बात नही है। सर्व-व्यापी आत्मारूपी तुम जो हो तुम्हारे लिये 'आना' या 'जाना' तथा और अन्य कोई प्रवृत्ति ही कहाँ से हो सकती है ? तुम तो

जहाँ जैसे हो वहीं वैसे ही हो। वास्तव में तुम्हारा शरीर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते जाते अंत में इस आश्रम में आ पहुँचा है।

यही सरल सत्य है। परंतु जो मनुष्य अपने को दृश्य जगत में रहनेवाला व्यक्ति मानता है उसको यह सत्य माया-जाल जैसा लगता है।

प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से ही हृदय के अधिष्ठान की स्थूल देह में कल्पना की गयी है।

**भक्त**—यदि बात ऐसी है तो हृदय-केन्द्र का अनुभव छाती में निश्चित स्थान में होता है ऐसा श्रीभगवान का जो कथन है उसका अर्थ क्या समझा जाय?

म—यदि तुम एक बार इतना सत्य स्वीकार कर लो कि केवल चिन्मय अर्थात् शुद्ध चैतन्य रूपी हृदय देश-काल से अतीत है तो फिर ऐसी पारमार्थिक दृष्टि से बाकी सब आसानी से समझ में आ सकता है।

**भक्त**—इस भाव को समझने के लिये ही मैने हृदय के अधिष्ठान के विषय में प्रश्न पूछा है। मै श्रीभगवान का अनुभव सुनना चाहता हूँ।

म—ज्ञानी को त्रिकरणातीत शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है। जिस प्रकार अज्ञानी को देहाध्यास स्वाभाविक लगता है उसी प्रकार ज्ञानी को निरुपाधिक नित्य स्वानुभूति सत्य

लगता है। परंतु उनकी यह अनुभूति सोपाधिक (सशरीर) या निरुपाधिक (अशरीर) भी हो सकती है। केवल अनुभूति में ज्ञानी देश काल से अतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में हृदय के अधिष्ठान का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता।

परंतु प्राण चैतन्य के आधार के बिना टिक नही सकता अर्थात् चैतन्य द्वारा ही देहभाव टिकाये रखना पड़ता है। देह भाव परिमित होने से कभी भी अपरिमित और शाश्वत ऐसे शुद्ध चैतन्य के साथ बराबरी नही कर सकता। जिस शुद्ध चैतन्य में ज्ञानी अहर्निश निमज्जित रहते हैं उसके परमाणु जितना वरन उससे भी अल्प प्रतिबिंब देहभाव है। इसीलिए शरीर के प्रति ज्ञानी की दृष्टि इस प्रकार की होती है।

शुद्ध चैतन्यरूपी निरुपाधिक हृदयानुभव के बीच में ज्ञानी को देहभाव लेशमात्र भी नहीं होता। इस कारण से जब-जब उनमें देहभाव उठता है तब-तब वे अपनी अनुभव स्मृति द्वारा अपने हृदयानुभव के लिये स्थूल देह में अमुक एक स्थान को नियत रखते हैं।

भक्त—मेरे जैसे मनुष्य जिसे कि हृदय का प्रत्यक्ष अनुभव नही अथवा उसके बाद की स्मृति भी नही है उसके लिये विषय का ग्रहण करना कठिन मालूम पड़ता है। हृदय के अधिष्ठान के विषय में हमको तो अनुमान पर ही आधार रखना पड़ता है।

म—तब तो इसके विषय में विचार ही करना व्यर्थ है। तुम सचमुच अनुमान का आधार नहीं लेते हो। परंतु तुम अचूक अंतःस्फुरण के आश्रय में ही आगे बढ़ते हो।

भक्त—ऐसा अंतःस्फुरण किसे प्राप्त होता है?

म—प्रत्येक को।

भक्त—क्या मुझे भी अंतःस्फुरण प्राप्त करने का सौभाग्य श्रीभगवान् द्वारा मिल सकता है?

म—हृदय का नहीं, परंतु शरीरांतर्गत हृदय के स्थान का स्फुरण तुममें अवश्य है।

भक्त—क्या श्रीभगवान् यो कहते हैं कि हृदय का स्थान जहाँ है उसका मुझे स्फुरण है?

म—क्यों नहीं कहूँ?

भक्त—(अपनी छाती की तरफ़ इशारा करते हुए) क्या मेरे ही विषय में श्रीभगवान् यह बात कह रहे हैं?

म—हाँ, यही अंतःस्फुरण है। अभी मेरे ही सामने तुमने अपने विषय में संकेत कर क्या बताया? तुम अपनी उंगली अपनी छाती की दाहिनी ओर रखो! बस यही हृदय का अधिष्ठान है।

भक्त—तब तो हृदय के प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में मुझे इस अंतःस्फुरण का आश्रय लेना चाहिए।

म—अंतःस्फुरण में दोष क्या है? एक विद्यार्थी कहता है कि "मैंने गणित के प्रश्न को ठीक लगाया" या पूछता है कि "मैं दौड़कर तुम्हारे लिए पुस्तक ले आऊँ?" तब प्रश्न ठीक लगाने के लिये बुद्धि या पुस्तक लाने के लिये दौड़नेवाले पैरों को बताता है? नहीं। ऐसे सभी प्रसंगो में उसकी उंगली स्वभावतया उसकी छाती की दाहिनी ओर ही जाती है। इस प्रकार से वह मैं अर्थात् आत्मा का मूल वहाँ है इस गंभीर तत्त्व का अनजान में ही बहिर्दर्शन करता है। यह अचूक अंतःस्फुरण ही उसके पास इस प्रकार आत्मारूपी हृदय का निर्देश करता है। यह क्रिया बिलकुल सहज और बिना अपवाद के सभी मनुष्यों में स्वभावतः अंतर्गत होती है।

देह में हृदय का अधिष्ठान नियत करने के संबंध में इस से कुछ विशेष सबल प्रमाण क्या तुमको और चाहिए?

---

## 5. अहम् और अहंवृत्ति

भक्त—अहंता से शुरू की हुई विचारणा अहंता की ही असत्यता को कैसे प्रकट कर सकती है? क्या यह अनुचित नहीं है?

म—जिस स्थान से अहंवृत्ति उठती है उस मूल स्थान में यदि तुम डुबकी मारोगे तो तुम अहंकार के मिथ्याभास से परे हो जाओगे।

भक्त—क्या हम यह कह सकते हैं कि तीन प्रकार की अहंताओं में यह भी एक है जहाँ से विचारणा शुरू होती है? योगवासिष्ठ और श्रुति में जो तीन प्रकार की अहंता बतायी गयी क्या वह ठीक है?

म—हाँ, कहा जाता है कि अहंता के स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऐसे तीन प्रकार के शरीर हैं। परंतु ये भेद तो केवल तत्व-विचार के निमित्त से बताये गये है। और यदि विचारमार्ग का आधार लेकर अहं के स्वरूप के विषय में विचार किया जाय तो प्रत्येक विचारणा बिलकुल अशक्य हो जायगी। क्योंकि व्यक्ति भेद से अहंता असंख्य रूप धारण करती है। इसलिए तात्त्विक दृष्टि से इस विषय में यों मानना उचित है कि अहंवृत्ति एक ही अहं का रूप है।

भक्त—अहंवृत्ति के मूल का शोध करने पर क्या पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है?

म—अहंवृत्ति के मूल के शोध के द्वारा आत्मविचार करना उस कुत्ते के काम के समान होगा जहाँ कुत्ता अपने मालिक को ढूँढ़ने के लिये उसकी गंध के मूल स्थान को सूंघ-सूंघ कर ढूंढने जाता है। मालिक चाहे जितनी दूरी पर किसी अनजान जगह में हो फिर भी कुत्ता बिलकुल आसानी से उसे ढूँढ़ निकालता है। उसके लिये मालिक के कपड़े, उसकी ऊँचाई, उसका कच्छ आदि किसी वस्तु की आवश्यकता नही होती।

शोधन काल में कुत्ता अपना मन मालिक की गंध के सिवाय और किसी वस्तु में न लगाकर अंत में उसी एक गंध के आधार से सफलतापूर्वक अपने मालिक को ढूँढ निकालता है।

इसी प्रकार तुम्हारे आत्मविचार की साधना में तुम्हारे अनुभव की मूलाधाररूपी अहंवृत्ति ही अचूक मार्गदर्शक है। दूसरा कोई भी उपाय आत्मसाक्षात्कार की प्रत्यक्ष साधना नहीं है।

भक्त—वृत्तियाँ असंख्य हैं फिर भी उनमें से केवल अहंवृत्ति को ही आत्मसाक्षात्कार का एकमात्र अचूक उपाय क्यों मानना चाहिए?

म—स्वयं 'अहम्' शब्द बहुत ही गंभीर तथा अर्थ से परिपूर्ण है। यह शब्द प्रथम व अंतिम अक्षरो से बना हुआ है। 'अ' संस्कृत मूलाक्षर का प्रथम अक्षर है और 'ह' अंतिम अक्षर है। ये दोनों आदि तथा अंतिम अक्षर यही सुझाते हैं कि इनमें सबका समावेश हो जाता है। इस प्रकार 'अहम्' वास्तव में आत्मा का ही निर्देश करता है, जो तुम्हारे सद्रूप का आधार है।

यद्यपि 'मैं' भाव को अहंवृत्ति कहा जाता है फिर भी वास्तव में यह वृत्ति मन की दूसरी वृत्तियों जैसी एक नही है। दूसरी वृत्तियाँ एक दूसरे के साथ संबंध नही रखती जब कि अहंवृत्ति तो मन की सभी वृत्तियों के साथ परस्पर संबंध रखती है। अहंवृत्ति के बिना दूसरी कोई वृत्ति नही टिक सकती है।

परंतु अहंवृत्ति तो मन की दूसरी किसी भी वृत्ति के आधार के बिना अपने आप टिकी रहती है। इसलिये अहंवृत्ति दूसरी वृत्तियों से स्वभाव से ही बिलकुल भिन्न है।

इस प्रकार अहंवृत्ति के आधार का शोध किसी एकाध स्वरूप का शोध नहीं है। वास्तव में जहाँ से अहंवृत्ति उठती है वह मूल स्थान का ही यह शोध है। अहंवृत्ति दूसरी सभी वृत्तियों की आधार रूपा है। अर्थात् यदि तुम अहंवृत्ति के मूल स्थान का शोध कर उसकी प्राप्ति कर लो तो अहंवृत्ति के सभी स्वरूपो से तुम परे हो जाओगे।

भक्त—अहंवृत्ति में अहं के सभी स्वरूप समा जाते है ऐसा यदि मान लें तो भी मात्र इसी वृत्ति को आत्म-विचार के साधन के रूप में क्यों पसंद करना चाहिये?

म—क्योंकि वह तुम्हारे सद्रूप की एक मात्र मूलाधार रूपा है। इसके सिवाय उसके मूल का शोध करना आत्मानुभूति का सीधा मार्ग है। क्योंकि अहं को उसके कारण देह में पकडना असाध्य नहीं है? जब अहं कारण देह धारण करता है तब तुम निद्रा में पड़े रहते हो; ऐसी स्थिति में अहं के मूल का शोध किस प्रकार चलाया जा सकता है?

भक्त—आत्मविचार जाग्रत अवस्था में किया जाता है। जब अहं के सूक्ष्म और कारण देह जाग्रत दशा से भिन्न होते हैं तब फिर जाग्रत दशा में की हुई विचारणा सूक्ष्म व कारण

देह का किस प्रकार शोध करती व कैसे उसका नाश भी करती है?

म—अहंविचार द्वारा अहं का नाश होता है इस विषय में कोई शंका ही नही है। एक बार मूल का नाश हो जाने के बाद अहं के सूक्ष्म रूपों का नाश करने का काम ही नहीं रहता।

**भक्त**—जिसका आधार अहं पर नहीं है ऐसी अखंड केवल आत्मा ही यदि हमारा लक्ष्य हो तो अहंवृत्ति द्वारा ही विचार करने की क्या आवश्यकता है?

म—अहं का स्वभाव ही दृश्य व अदृश्य होने का है। वह भिन्न भिन्न कई रूप धारण करता है। वह अपने वृत्तिव्यापार के अनुसार बंधन, जीव, सूक्ष्म शरीर, अहंकार, संसार, मन आदि नामों से पहचाना जाता है। परंतु:वास्तव में वह चित्-जडग्रंथि कहलाता है। अहंवृत्ति के मूल के शोध का आधार चित्-जडग्रंथि का चित् अंश ही है। इस कारण से इस साधना का अंतिम परिणाम आत्मचैतन्य की पूर्णानुभूति ही है।

**भक्त**—ज्ञानी के शुद्धचैतन्य की अनुभूति और 'अहमस्मि' के सर्वसामान्य अनुभव के बीच में क्या संबंध है?

म—सत् की सच्चिदात्मा ही हृदय है। सच कहें तो तुम ही हृदयरूप हो ऐसा हृदय शब्द का अर्थ सुझाता है। (हृत्+अयम्=मध्ये यही है) हृदय से उद्भूत अहं अपने आधाररूपी आत्मा का भान जाग्रत करता है। उसके सहज स्वरूप में वह

शुद्ध सत्व है। ज्ञानी का अहं, रजस और तमस से अलिप्त होता है। इसलिए उसका अहं शुद्ध सत्व रूप में दीखता है।

भक्त—ज्ञानी की अहंता शुद्ध सत्व रूप होने मात्र से ही क्या वह सत्य दीखती है?

म—नहीं, ज्ञानी या अज्ञानी के भेद के विना अहंता जो रूप धारण करती है वह सचमुच भास मात्र होता है। परंतु जाग्रत दशा और जगत को सत्य मानने के भ्रम से अज्ञानी को भी अहं सत्य दीखता है। वह ज्ञानी को दूसरे मनुष्यों की तरह वरतते देखकर उनमें भी जीवभाव होने की कल्पना कर लेता है।

भक्त—यदि ऐसा ही होता है तो ज्ञानी में अहंवृत्ति का व्यवहार कैसे होता है?

म—ज्ञानी में वृत्तिव्यवहार विलकुल नहीं होता। हृदय रूप बनना ही ज्ञानी का लक्ष्य है। क्योकि वे और जिसे उपनिषद् प्रज्ञान कहते है ऐसा शुद्ध चैतन्य एक और अभिन्न है। प्रज्ञान केवल ब्रह्म ही है और ब्रह्म प्रज्ञान है।

भक्त—तो फिर इस प्रज्ञान के विषय में अज्ञानी ही क्यो अनजान रहता है?

म—क्योकि अज्ञानी का हृदय चैतन्य का प्रतिबिंब ही देखता है। वह अंतर-जाग्रति के लिए प्रयत्न नहीं करता। क्योकि उसका मन केवल वहिर्मुख प्रवृत्तियो में ही निमग्न रहता है।

भक्त—सर्वत्र प्रकाशित रहनेवाले हृदय चैतन्य का ज्ञान अज्ञानी को क्यों नही होता ?

म—जिस प्रकार एक घड़े के अंदर का पानी घड़े की संकुचित जगह में अखंड सूर्य का प्रतिबिंब दिखाता है उसी प्रकार सूक्ष्म वासनाएँ हृदय के अंदर से प्रकट होनेवाले सर्वव्यापी तेजस का आश्रय लेकर मनरूपी प्रतिबिंब दिखलाती है। इस प्रतिबिंब को देखकर अज्ञानी स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म होने पर भी ऐसे भारी भ्रम में पड़ जाता है कि जिससे वह अपने आप को अल्पजीव समझने लगता है।

जब प्रतिबिंब के साधन का अभाव हो जाता है तब मन की दृश्यता हृदय में समाकर सत्सुख की ज्योति में विलीन हो जाती है और इस प्रकार मन अदृश्य या विलीन हो जाता है।

इसलिये अभ्यासी को इतना अवश्य जानना चाहिए कि श्रद्धा व एकाग्रतापूर्वक अहंवृत्ति के मूल का शोध करना ही उनका कर्तव्य है।

भक्त—परंतु वे जो कोई साधना करते है मन के द्वारा जाग्रत दशा में ही करते हैं। तीन दशाओ में से एक दशा में की हुई ऐसी विचारणा स्वयं मन का नाश किस प्रकार कर सकती है ?

म—अभ्यासी जाग्रत दशा में अहंवृत्ति के मूल का शोध करता रहता है यह बात सच है। पर उस दशा में उसके मन

का नाश हो जाता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसको अभ्यास के बल के द्वारा अपने आप ज्ञान होता है कि अवस्था त्रय का परिवर्तन वैसे ही स्वयं तीनों अवस्थाएँ भी केवल भास ही है जिससे उसकी अंतुर्मुखी निष्ठा पर किसी प्रकार का असर नहीं होता।

आत्मविचार तीव्र अंतर्मुख निष्ठा द्वारा ही हो सकता है। अहंवृत्ति के मूल की विचार-साधना द्वारा जिसका दर्शन होता है वही वास्तव में हृदयचैतन्य का प्रकाश है जिसमें मन रूपी प्रति-बिंब पूर्णतया विलीन हो जाता है।

**भक्त**—तब क्या ज्ञानी को तीन अवस्थाओं के बीच में कोई अंतर ही मालूम नहीं होता?

**म**—यदि मन ही हृदयचैतन्य की ज्योति में विलीन हो गया हो तो फिर अवस्था भेद क्यो रहेगा? ज्ञानी को तो किसी तरह के भेद बिना तीनो दशाएँ पूर्णतया मिथ्या लगती हैं। परंतु अज्ञानी इस सत्य का दर्शन नहीं कर सकता, क्यो कि वह जाग्रत अवस्था को ही प्रमाणभूत मानता है, जब कि ज्ञानी सत् को ही प्रमाण मानता है। यह सत्य कि जो स्वतःसिद्ध और नित्य शुद्ध चैतन्य है वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनो अवस्थाओं का आधार रूप है। जिसका इस सत्य के साथ तादात्म्य हो जाता है उसके लिए न मन है और न तीनो अवस्थाएँ। इससे न उसको बहिर्मुखता रहती है और न अंतर्मुखता।

ज्ञानी की सदा जाग्रत दशा होती है, क्योकि वह अविनाशी आत्मरूप के विषय में सतत और सदैव जाग्रत रहता है। उसकी नित्य स्वप्नावस्था होती है क्योंकि उसको जगत एक वार स्वप्न में दीखता है पर दूसरे ही क्षण पुनः अदृश्य होता दीखता है। उसकी सदा सुषुप्ति अवस्था होती है क्योंकि वह अहर्निश देहादि के भान से रहित होता है।

**भक्त**—यदि ऐसा ही हो तो क्या मैं यह समझूँ कि श्रीभगवान मुझसे ऐसी ही अवस्था में बोल रहे है जिसमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि तीनो दशाएँ एकरूप हो जाती हैं?

**म**—तुम्हारा मन जाग्रत दशा के हृदय की तरह मर्यादित है, इसलिए तुम इस स्वप्न दशा को जाग्रत दशा कहते हो परंतु तुम्हारा मन आत्मा द्वारा सुषुप्ति में है। इसलिए वास्तव में तुम अव सुषुप्ति दशा में ही हो।

**भक्त**—मुझे निद्रा निरी शून्यवत् लगती है।

**म**—इसका कारण यही है कि तुम्हारी जाग्रत दशा चंचल मन के उभड़ने के सिवाय और कुछ नहीं है।

**भक्त**—मैं शून्यता का ऐसा अर्थ करता हूँ कि निद्रा में मुझे किसी प्रकार का भान नहीं रहे। ऐसी दशा मुझे कुछ भी न होने के वरावर लगती है।

**म**—किंतु निद्रा में क्या तुम जीवित नहीं थे?

**भक्त**— नींद में मुझे अपने जीवित रहने का भान नहीं रहता।

म—तुम निद्रा में जीवित नहीं थे इस वाक्य द्वारा तुम क्या कहना चाहते हो? तुम सोने गये तब तुम्हारे नाम-रूप क्या कुछ और थे और वे क्या जागने पर बदल गये? क्या तुम राम होकर सोये तो कृष्ण होकर उठे?

भक्त—स्मरण शक्ति के कारण मुझे अपने नाम-रूप का भान रहा ऐसा भी हो सकता है। स्मृति के बल से मैं अपने को राम ही समझ सकता हूँ।

म—ऐसा भान होने पर भी जब तक तद्विषयक सतत ज्ञान न हो तब तक स्मृति भी कैसे रह सकती है?

भक्त—परंतु इस ज्ञान का भी मुझे भान नहीं था।

म—नहीं, ऐसा नहीं। निद्रा में तुमको भान नहीं था ऐसा कहनेवाला कौन है? तुम्हारा अपना मन ही क्या ऐसा नहीं कहता? परंतु निद्रा में तुम्हारा मन तो तुम्हारे पास नहीं था। इसलिये जिस दशा में तुम निद्राधीन थे उस दशा के विषय में तुम्हारे मन के साक्षी के लिए क्या प्रमाण है? निद्रा में तुम्हारे अस्तित्व और भान को झूठा ठहराने के निमित्त तुम्हारे मन को साक्षी देने बुलाने की बात तुम्हारे जन्म को झूठा ठहराने के लिए तुम्हारे पुत्र को साक्षी देने के लिए बुलाने के समान है।

पहले एक बार कहा गया है उस बात का क्या तुम्हें स्मरण है कि अस्तित्व और भान परस्पर विभिन्न है? किसी भी कारण से निद्रा में चाहे तुम अपने अस्तित्व के सम्बंध में इनकार न कर सको

फिर भी वास्तव में तुम अकेले को इस अस्तित्व का भान था। नीद में तुम्हें जिसका भान न था वह केवल तुम्हारा शरीर ही है। तुम्हारी जाग्रत दशा के अंतर्गत शरीर रूप से तुम्हारा अस्तित्व रहता है इस मिथ्या धारणा के फल स्वरूप तुम ऐसे भ्रम में पड़ गये हो कि देहात्मभाव ही तुम्हारी यथार्थ स्थिति है।

मन की तीनों अवस्थाओं से जो अतीत, अविकारी और 'अहमस्मि' के अनुभव का मूलाधार है वही सनातन प्रज्ञान है। वही जीव मनुष्य भाव का आधार होकर 'मैं राम हूँ, कृष्ण नही' ऐसा अपने विषय में कह सकता है।

प्रज्ञान तीनों दशाओं से अतीत है। तीन दशाएँ चाहे हों या न हों वह अकेला ही सब दशाओं के आधार रूप में जगमगाता है।

वास्तव में अहंवृत्ति के मूल के शोध का तात्पर्य यही है कि तुमको मूल का शोधकर उसी में विलीन हो जाना चाहिये। आत्मविचार की इस दीर्घ साधना द्वारा तुम्हें स्पष्ट दर्शन होगा कि मन और उसकी तीन दशाएँ विद्यमान नही है; पर हृदय या आत्मा ही कैवल्य दर्शन का नित्य, अखंड चैतन्य है।

---